मानव साहित्य सदन की सातवीं भेंट

अपरिग्रहवाद:

एक तुलनात्मक अध्ययन

[दार्शनिक विवेचन]

रघुवीरशरण दिवाकर

प्रकाशक
श्याम सुन्दर दिवाकर
मानव साहित्य सदन
रामपुर

मुद्रक
कुबेर चन्द जैन
पब्लिक प्रिन्टिंग प्रेस,
रामपुर

धन्यवाद

इस पुस्तक के प्रकाशन का व्यय श्रीमान सेठ चिरंजी लाल जी बडजाते वर्धा ने अपनी स्वर्गीया माता श्रीमती सुगना बाई की स्मृति में श्रीमती सुगना बाई सेवा ट्रस्ट की ओर से वहन किया है अत सदन उन का हृदय से आभारी है।

व्यवस्थापक
मानव साहित्य सदन
रामपुर (उ० प्र०)

प्रथमावृत्ति--जुलाई १९५८

मूल्य १)

दो शब्द

अपरिग्रहवाद का प्रश्न सरल नहीं है, पर साम्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद तथा नवयुग की अनेक नव-चेतनाओं व विचारधाराओं की अपेक्षा से इस का तुलनात्मक अध्ययन तो और भी कठिन है। सच यह है कि अपरिग्रहवाद का विशदीकरण अथवा सर्वांगीण चित्रण निरूपण करने के लिए जिस विपुल विचार-सामग्री की आवश्यकता है, उस का प्रायः अभाव है, और इस का कारण है यह कि खुली दृष्टि से, खुले मस्तिष्क से, तुलनात्मक अध्ययन की प्रक्रिया से अथवा यथार्थवादी व वैज्ञानिक विचार पद्धति से तत्वज्ञान के इस अति प्रमुख व महत्त्वपूर्ण विभाग पर विचार न किया गया है और न अभी भी किया जाता है, केवल कुछ प्रतिपादित की हुई या परम्परा से मिली हुई परिभाषाओं, व निक्षेप शब्दों तथा भेदों-प्रभेदों के वृत्त में ही उसे सीमित रख कर उस के विषय में कह सुन लिया जाता है। पर आज इस रटाई या किताबी पंडिताई से काम नहीं चल सकता। आज आवश्यकता है दृष्टि विस्तार की, विचार-स्वातन्त्र्य की, कटु-कठोर वास्तविकताओं से जूझने की, सूक्ष्म सापेक्ष निरीक्षण-परीक्षण की। बौद्धिक ईमानदारी का

भी यही तकाजा है। इस अपेक्षा के साथ विद्वान विचारक सूक्ष्म पर स्पष्ट तात्विक विचारणा व गवेषणा के साथ अपरिग्रहवाद में गहरे उतरेंगे और खोज-खोज कर उस महासागर में से अलभ्य मोती निकालेंगे, तभी अपरिग्रहवाद के विराट दर्शन हो सकेंगे और तभी यह सुस्पष्ट हो सकेगा कि अपरिग्रहवाद आज के जटिल प्रश्नों का निराकरण करने में वर्तमान युग की विचारधाराओं को संशोधित व परिमार्जित करने में अथवा उन की त्रुटियों व विकृतियों को दूर करने में तथा युग-युग की उलझनों को सुलझाने में कहाँ तक उपयोगी व समर्थ है, और तभी परिग्रहवाद तथा पूंजीवाद, सम्प्रदायवाद, फासिस्टवाद आदि के दुष्परिणामों से ग्रस्त व जर्जर यह जगत अपरिग्रहवाद के महान सन्देश को ग्रहण कर वास्तविक सुख व शान्ति की ओर अग्रसर हो सकेगा।

इसी लक्ष्य की ओर इंगित मात्र करने के लिये 'अपरिग्रहवाद एक तुलनात्मक अध्ययन' नाम की यह पुस्तक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है। एक विद्यार्थी अध्ययन और एक जिज्ञासु की खोज ही यही है, अतः आशा है कि विज्ञ व विचारशील पाठकगण इसी दृष्टि से इस पुस्तक को ग्रहण करेंगे।

—दिवाकर

अपरिग्रहवाद :

एक तुलनात्मक अध्ययन

परिग्रह– मन का मैल

सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि से परिग्रह बाह्य जगत का पदार्थ नहीं, अन्तर्जगत का एक तत्त्व है। वह एक भाव है पर शुद्ध नहीं, मलिन भाव है। उसे मन का विकार भी कह सकते हैं। यही मूर्च्छा है, यही आसक्ति है, आत्म निद्रा है, बेहोशी गफलत है। परिग्रह की 'मूर्च्छा परिग्रह' परिभाषा का आशय भी यही है। इस तरह भीतरी चैतन्य के या मन मस्तिष्क के स्वास्थ्य का हनन करने वाले जितने भी दुर्गुण या विकार भाव हैं वे सभी परिग्रह रूप हैं। यूं भी कह सकते हैं कि मानस-जगत का सारा मैल परिग्रह है। इसी भाव को यह कह कर व्यक्त किया जा सकता है कि आत्मा की निराकुलता शान्ति व सुखानुभूति को नष्ट करने वाली क्रोध, मान माया लोभ द्वेष मोह, अहंकार आदि सभी कषाय व लालसाएँ अथवा सभी असद् वृत्तियाँ परिग्रह ही हैं।

परिग्रह और हिंसा का पार्थक्य

किया जा सकता है। आखिर, हिंसा किसी की जान लेना या किसी को *मारना-पीटना ही नहीं है। हिंसा के अंतर्गत आत्मा* का सारा मैल या विकार आ जाता है, क्योंकि उससे आत्म हनन होता है, व्यक्तित्व का ह्रास होता है, और न्यूनाधिक मात्रा में तथा किसी न किसी रूप में 'स्व' का ही नहीं, 'पर' का भी उत्पीड़न होता है। इसी तरह असत्य भी वह सब कुछ है जो आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप के ज्ञान या स्वानुभव से विमुख या विचलित करे और इस अपेक्षा से सभी दुर्विचार व मनोविकार असत्य ही हैं। ऐसी स्थिति में, परिग्रह को पृथक रूप में देखने-समझने के लिये और उस अपेक्षा से अपरिग्रह या अपरिग्रहवाद की विशिष्ट मीमांसा करने के लिये यह आवश्यक है कि परिग्रह को, यदि पदार्थ के पीछे परिग्रह का भाव-पक्ष विद्यमान है, पदार्थ-रूप से ही मान्य किया जाय। पृथकत्व का यह आशय नहीं है, न हो ही सकता है, कि परिग्रह के हिंसा रूप को अमान्य ठहराया जाय। *प्रत्येक अवस्था में परिग्रह हिंसात्मक है, अथवा जहाँ परिग्रह है, वहां अनिवार्य रूप से हिंसा भी है ही।* यहाँ तो यही अभिप्रेत है कि तत्त्व चिंतन या तात्विक विश्लेषण की दृष्टि से अथवा सामाजिक एवं व्यावहारिक दृष्टि बिन्दु लेकर सुस्पष्ट रूप में विचारणा व गवेषणा कर सकने की दृष्टि से परिग्रह और हिंसा का घुटाला न हो जाय, दोनों टकरायें नहीं, वरन अपनी-अपनी जगह रहकर एक दूसरे का स्पष्टीकरण व विशदीकरण करते रहें। आखिर, नीतिवाद परिग्रह को हिंसा से पृथक एक पाप, हिंसा के सदृश्य एक मूल पाप, तथा इसी अपेक्षा से अपरिग्रह को अहिंसा की तरह ही एक अलग मूलव्रत मानता आया है, इसलिये यह पृथकत्व सर्वानुमोदित ही है। अपरिग्रह को मूलव्रत न मान कर अहिंसा व्रत का ही अंग या अणुव्रत मात्र किया जाता, तब बात दूसरी थी। पर यह

प्रथक्करण तभी निभ सकता है जब परिग्रह को भावात्मक ही नहीं, पदार्थात्मक भी माना जाय, और इस तरह परिग्रह को इतना व्यापक होने से रोका जाय कि वह स्वय हिंसा न बन जाय अथवा हिंसा की दूसरी संज्ञा ही बन कर न रह जाय। इधर यह नियत्रण न किया गया तो उधर फिर अपरिग्रह को अहिंसा बन कर बैठ जाने से कैसे रोका जा सकेगा, और तब तो विचार-जगत मे तत्व चिंतन व आत्म निरीक्षण मे अराजकता सी आ जायगी।

परिग्रह की प्रारम्भिक परिभाषा

यहाँ हम इस परिभाषा पर आते हैं कि जो पदार्थ *आत्मा में मूर्च्छा या ममत्व भाव लाता है, अथवा जिस पदार्थ के निमित्त से मन मस्तिष्क या आत्मा में विकार-भाव प्रवेश करते हैं, वह परिग्रह है।*

इस मन्तव्य के अनुसार परिग्रह न बाह्य पदार्थ ही है और न मूर्च्छा या ममत्व भाव ही है, बल्कि वह मूर्च्छा ममत्व-भाव है जो व्यक्ति बाह्य पदार्थ या पदार्थों के प्रति रखता है। निश्चय ही इस मन्तव्य के अन्तर्गत 'बाह्य परिग्रह' एवं 'अतरंग परिग्रह' परिग्रह के भेद नहीं, अंग या अवयव हैं।

पर परिग्रह की यह परिभाषा भी एकांगी व अपूर्ण ही है, क्योंकि परिग्रह पदार्थ जिस बाह्य जगत से सम्बन्धित है, व्यापक रूप से उसकी अपेक्षा यहाँ नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वैयक्तिक दृष्टि से ही यहाँ काम लिया गया है, सामाजिक दृष्टि से नहीं।

व्यक्ति और समाज

निस्सदेह व्यक्तिवाद एक सत्य है, परम सत्य है, चिर सत्य है। किसी युग में व किसी भी परिस्थिति में इसकी वास्तविकता को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। पर समाज भी तो आखिर व्यक्ति का ही एक प्रलम्बित रूप है वह व्यक्ति से पृथक नहीं है। व्यक्ति समाज की इकाई है, समाज का घटक है और वही समाज का जन्म-दाता व विधाता है। अनेक व्यक्ति मिलकर अपने-अपने व्यक्तित्व का कुछ अंश एक जगह सग्रहीत करके ही तो एक वृहद्-समाज-व्यक्ति को जन्म देते हैं। यह एक आदान प्रदान मय व्यवस्था है, जिसके अंतर्गत व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता का कुछ अंश समाज के हाथ में सौंपता है और मूल्य स्वरूप अपनी शेष स्वतन्त्रता में किसी दूसरे की ओर से हस्तक्षेप न होने का आश्वासन व संरक्षण पाता है। वास्तव में इस पारस्परिक पराधीनता का ध्येय वैयक्तिक स्वतन्त्रता ही है। समाज निर्माण के इस मौलिक सत्य को हम समझें तो समष्टिवादी विचारधारा को हम व्यष्टि या व्यष्टिवाद का विरोधी नहीं, सहायक व संरक्षक ही पायेंगे। उदाहरण के लिये अपरिग्रह को ही लें। अपरिग्रह की वैयक्तिक विचारधारा उसके सामाजिक संस्करण की छत्रछाया में ही सुरक्षित रह सकती है। व्यक्ति में अपरिग्रह की भावना न हो तो समाज में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, पर समाज की व्यवस्था अपरिग्रहवादी सिद्धांतों पर स्थित न हो तो भी व्यक्ति की अपरिग्रह व्रत की साधना होना सामान्यतः असंभव ही है। समाज की व्यवस्था, राज्य का सचालन, उत्पादन व वितरण के आधार-भूत सिद्धांत या नीति नियम आदि अपरिग्रहात्मक भावना व विचारधारा पर स्थित न हों, परिग्रहवाद पूंजीवाद सग्रहवाद और तज्जन्य अर्थ

वैषम्य का चारों ओर दौर गैरा हो तथा उसके [illegible]
शोषण र पर अधिकार-हरण का बाजार गर्म हो [illegible]
परिग्रहवान् मे बच कर नहीं रह सकते । [illegible]
पड़ोस म आग लगी हो तो उस आग को बुझा [illegible]
को भस्मसात् होने से कैसे बचा सकते हैं ! [illegible]
लें, वह बाहरी ही हो तो वहाँ कैसे जीवित रह सकें ।

अपरिग्रह का विराट दर्शन

इस तरह, स्वय अपरिग्रही जनन की [illegible] को अपरिग्रह के आधार पर निर्मित [illegible] अन्तर्गत है, और इस अपेक्षा से व्यष्टि [illegible] समष्टि की दृष्टि से भी [illegible] हो नहीं, वृहद् समाज व्यष्टि के [illegible] अपरिग्रह के प्रश्न पर विचार करना [illegible] संकीर्ण वृत्त से निकल कर [illegible] विस्तार के साथ न देखा जायगा [illegible] सुस्पष्ट न होगा और न ही [illegible] साक्षात्कार हो सकेगा।

स्पष्ट ही जब हम इस [illegible] विचार करेंगे तब जहाँ तक [illegible] देखेंगे कि वृहद् समाज [illegible] हैं और इस तरह सामूहिक [illegible] जो भी दुखदायी विधि [illegible] के सुख व कल्याण का [illegible] हैं जो भी शोषण व [illegible] प्रवृत्तियाँ हैं, सभी परिग्रह [illegible]

अपरिग्रह और सदाशयता

यहाँ हम सहज ही इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वही पदार्थ परिग्रह नहीं है जो व्यक्ति के मन में विकार भाव लाये, बल्कि वह पदार्थ भी परिग्रह है *जिस पदार्थ के ग्रहण या संग्रह से शोषण या दूसरों के न्यायोचित अधिकारों का अपहरण हो, समाज में विषमता फैले, एक ओर अति-लाभ और दूसरी ओर हानि हो, अथवा समाज में द्वेष व अशांति व्याप्त हो।* मनोविकार या मूर्च्छा-भाव का जहाँ तक प्रश्न है, वह व्यापक दृष्टि से सामान्यतः यहाँ है ही। फिर, *अहिंसा की ही तरह अपरिग्रह सदाशयता में ही नहीं सतर्कतापूर्ण व विवेकपूर्ण यत्नाचार में भी है।* अतः यदि मन में शोषण की दुर्भावना न भी दिखे परिग्रह के भाव पक्ष की अनुभूति का स्पष्ट आभास सामान्य भी किया जाय तो भी यत्नाचार के अभाव में परिग्रह है ही। सद्भावना सदाशयता का बहाना अथवा समुद्र के बीच जल में कमल की तरह अलिप्त होने या ममत्व-भाव हीन होने का दावा परिग्रह का परिग्रहत्व नहीं मिटा सकता, परिग्रह-पाप को अपरिग्रह-पन में नहीं बदल सकता। प्रमाद असावधानी अविवेक, अयत्नाचार, ये सभी यहाँ अपराधमूलक हैं, परिग्रह पाप-मूलक हैं।

परिग्रह की अंतिम परिभाषा

इस तरह अंतर्जगत व बहिर्जगत दोनों की अपेक्षाओं से, तथा वैयक्तिक व सामाजिक दोनों दृष्टियों से, संतुलित व सामूहिक रूप से विचार करने पर हम परिग्रह की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—

जिस पदार्थ के निमित्त से व्यक्ति में मूर्च्छा ममत्व भाव या अन्य विकार-भाव आए अथवा/और उसका उपयोग भोग या

उपभोग, संग्रह या संचय, सामूहिक दृष्टि से समाज में विषमतापूर्ण व्यवस्था, शासन पर अधिकार-अपहरण, अशान्ति, संघर्ष व विनाश की वृत्तियों प्रवृत्तियों को जन्म दे या यदि ये वृत्तियाँ विद्यमान हों तो उन्हें संरक्षण दे या उनमें वृद्धि करे, तो वह पदार्थ परिग्रह है।

पदार्थ और परिग्रह

यहाँ सहज ही यह संकेत निहित है कि कोई भी पदार्थ, प्रत्येक अवस्था या परिस्थिति में, अथवा उसका उपभोग, संग्रह या संचय की हर स्थिति में, परिग्रह हो, यह आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, जन-मार्ग, पर्वत, वन, नदी, जलाशय, आदि सार्वजनिक स्थान, सहज ही किसी के उपयोग में आते हैं तथा साधारणतः इन्हें लेकर मोह ममत्व की भावना के लिये स्थान नहीं है, साथ ही न पथिक या नागरिक के नाते इनके उचित उपयोग में किसी एक का न्यायोचित अधिकार छिनता है और न समाज में अव्यवस्था या विषमता फैलती है अतः स्वभावतः ये परिग्रह नहीं हैं। आकाश, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ये सभी प्रकृति के वरदान भी ऐसे ही पदार्थ हैं। सार्वजनिक संस्थायें भी इसी कोटि में आती हैं। राज्य द्वारा कर ग्रहण, जन-हित के कार्यों के लिये जन संस्थाओं द्वारा अर्थ-संग्रह आदि में परिग्रह-भावना न होने से तथा जन हित का विरोध भी वहाँ न होने से प्रतीत या संगृहीत धन सम्पत्ति परिग्रह नहीं है। इसी तरह सार्वजनिक ट्रस्ट, दुखियों, पीड़ितों या शरणार्थियों की सहायता के लिये खोले गये फण्ड, समाज-सेवियों या शहीदों के स्मारक आदि के लिये संचित निधि, इन्हें परिग्रह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में जिस पदार्थ के प्रति विशेष रूप से अपने पन की भावना व तज्जन्य मोह ममत्व की अनुभूति न हो, अथवा

विशेष रूप से परापेक्षा या विद्वेष की भावना भी न हो, उस पदार्थ को 'परिग्रह' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस तरह हर पदार्थ परिग्रह नहीं है और ऐसे पदार्थ का उपयोग ग्रहण या संग्रह परिग्रह पाप नहीं है। यही कारण है कि जिन महात्माओं ने अपरिग्रह पर विशेष रूप से जोर दिया है यहाँ तक कि उसे महाव्रत भी माना है, उन्होंने भी पदार्थ ग्रहण का सर्वथा निषेध नहीं किया है। उनके अपरिग्रह व्रत का भाव यही है कि व्यक्ति वही या उतना ही पदार्थ ग्रहण करे जिसको लेकर उसका मन मोह-ममत्व राग द्वेष आदि के विकार भावों से विक्षुब्ध या कलुषित न हो अथवा जो पदार्थ जितना आवश्यक हो और इस दृष्टि से गृहस्थ तो क्या, महा अपरिग्रही साधु या मुनि के पास भी ऐसा पदार्थ उपयोगार्थ रह सकता है।

पर सार्वजनिक स्थान, कोष, निधि, ट्रस्ट संस्था आदि परिग्रहत्व के दूषण से बाहर ही हैं, ऐसा नहीं है। इन्हें लेकर भी मोह ममत्व की भावना हो सकती है। संकीर्ण राष्ट्रीयता व प्रांतीयता या प्रदेशीयता आदि की भावनाओं के अन्तर्गत राष्ट्र या देश अथवा प्रांत या प्रदेश आदि परिग्रह ही हैं। मन्दिर मस्जिद गिरजाघर आदि धर्मालय भी परिग्रह हैं, यदि इनकी आड़ में कोई दुःस्वार्थ साधन होता है अथवा यदि मानव मात्र के लिये इनके द्वार न खोल कर वर्ग विशेष द्वारा अहंकार तुष्टि या अधर्म-भावना का आलम्बन उन्हें बना लिया जाता है। इसी तरह ट्रस्ट, फण्ड, निधि, कोष, आदि का भी उपयोग विशुद्ध सार्वजनिक दृष्टि से या पात्रता की अपेक्षा से न कर, पक्षपात रागद्वेष व प्रतिस्पर्धी ईर्ष्या भाव से किया जाय, उन्हें किसी भी तरह के दुःस्वार्थ या विशेष व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति का साधन बनाया जाय, अथवा इनके संग्रह संचय में अनुचित दबाव, ज़ोर-

जयरक्षता, आदि की जाय तो ये भी ऐसा उपयोग या संग्रह करने वाले के लिये परिग्रह ही है। तात्पर्य यह है कि *जहाँ जिस पदार्थ से- चाहे वह पदार्थ सार्वजनिक ही क्यों न हो, विशेष आर्थिक या अन्य निजी स्वार्थ सम्बद्ध है अथवा जिसको लेकर मन में विषय-भावना है, दुरुपयोग है, अन्याय है, मोह-मूर्च्छा है, समाज का अहित है, वह परिग्रह ही है।*

अपरिग्रह और अहिंसा

परिग्रह हिंसा का ही एक रूप है। पर हिंसा क्या है? किसी की जान लेना ही हिंसा नहीं है। प्राणघात-जन्य मारण उत्पीड़न ही नहीं, किसी भी तरह का कितना भी उत्पीड़न हिंसा है और निश्चय ही इस अपेक्षा से अहिंसा की व्याप्ति का ठिकाना नहीं है। जहाँ भी दुख का निराकरण है जहाँ भी कष्ट व पीड़ा का निवारण है अथवा जहाँ भी सुख वृद्धि है, निराकुलता है, शान्ति है, वहीं अहिंसा है। स्पष्टतया अखिल प्राणी जगत यहाँ अपेक्षित है व्यष्टि ही नहीं, समष्टि यहाँ दृष्टिगत है। और ऐसी स्थिति में अपरिग्रहमूलक सामाजिक व्यवस्था पूर्णरूपेण अहिंसात्मक ही है। अपरिग्रहवाद को भुलाकर अहिंसा की साधना एक विडम्बना मात्र है। पूंजीवादी या परिग्रहवादी समाज में क्या होता है? एक पूंजीवादी पानी छान कर पीते हुये भी मजदूरों का खून बिना छाने ही पी जाता है, चींटियों व कीड़ों-मकोड़ों को खिलाते पिलाते हुए भी मानव-देह धारियों को भूखा मरने की परिस्थिति में डालने से झिझकता भी नहीं है, व्यक्ति लक्षाधिपति या धार्मिक होकर भी शोषक होकर भी, अहिंसा पालन का अभिनय करता है और समय असमय अहिंसा की दुहाई देते हुए भी नहीं अघाता है। इतना ही नहीं

अपरिग्रहवाद के सामाजिक संस्करण के अभाव में यह घोर परिग्रही या परिग्रहवादी यह दावा भी करता देखा जाता है कि वह अपरिग्रहवादी है। इसके लिये वह अपरिग्रहवाद को ही तोड़-मरोड़ कर बेढंगा बना देता है, अहिंसा को भी भोंडी और लूली-लंगड़ी बनाने में कमी नहीं करता है। निश्चय ही अहिंसा, परिग्रह की दुनिया में वास्तविक अर्थों में प्रतिष्ठित हो ही नहीं सकती। अहिंसा को व्याप्त बनाना है तो परिग्रह को निःशेष करना होगा तथा अपरिग्रहवाद के आधार पर समाज का नव-निर्माण करना होगा। *अपरिग्रह के बिना अहिंसा अपाहिज है, प्राणहीन है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ शोषण है, उत्पीड़न है, हिंसा है। जहाँ अपरिग्रह है, वहाँ अहिंसा है।*

त्याग और अग्रहण

यहाँ अपरिग्रहवाद का एक विराट स्वरूप हमारे मानस चक्षु के समक्ष आता है और तब हम इसकी गहराइयों में ढूँढने पर देखते हैं कि वास्तव में *अपरिग्रह त्यागमूलक नहीं, अग्रहण-मूलक है।* यह रहस्य सूक्ष्म है, पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसे न समझने से अनर्थ ही होगा, जैसा कि हुआ भी है।

व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक पदार्थ या धन-सम्पत्ति का संग्रह करे, तत्पश्चात् उसमें से दान करे या अपने पुत्रादि के पक्ष में उसका त्याग करे, यह अपरिग्रह के मूलमन्त्र का पालन या आचरण नहीं है। *अपरिग्रहवाद ग्रहण कर त्याग या दान करने का नहीं, ग्रहण न करने का विधान करता है।* त्याग या दान को भूल-सुधार या प्रायश्चित भले ही कह दिया जाय, पर अपरिग्रह के आसन पर उसे बिठाना अपरिग्रहवादी आदर्श को

गिराना ही है। फिर, त्याग की यह पद्धति, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपनी धन सम्पत्ति या परिग्रह अपने पुत्र, सम्बन्धी या अन्य इष्ट व्यक्तियों को देकर निवृत्तिवादी 'वीतरागी' साधु बन जाय स्वयमेव भी इतनी महान नहीं है कि उसे निर्दोष मान लिया जाय या उसे आदर्श के पद पर आसीन किया जाय। *निश्चय ही इस त्याग रूपी अमृत में नीचे मोह की तलछट जमी हुई है। विश्व-बन्धुत्व-रूपी साधुधर्म की दीक्षा लेते समय सन्तान या परिवार का यह संकीर्ण मोह उसके नव जीवन की एक असमानलीक भूमिका है।* कम से कम जिस धन सम्पत्ति पर स्वामी या निजी व निर्बाध स्वामित्व है, उसका ऐसा त्याग मोह भावना के वृत्त से परे नहीं है और इस अपेक्षा से वह अपरिग्रहवाद भी सच्ची भावना व कृति से दूर है, बहुत दूर है।

त्याग या दान का अपना एक मूल्य है और वह मूल्य चमक उठता है यदि त्याग या दान समाज के लिये हो, मानवता के लिये हो। आवश्यक से अधिक जो कुछ हम के पास है, जन हित के लिए उस का समर्पण अथवा उसका समाजार्पण अपरिग्रह व्रत पालन की परिस्थिति का निर्माण है, अपरिग्रहवाद का आह्वान है, वातावरण या वायु मंडल का शुद्धिकरण है, पर यह सत्य कभी न भूलना चाहिये कि मूल रूप से या सच्चे अर्थों में अपरिग्रहवाद की साधना यहाँ नहीं है। यह साधना आवश्यक से अधिक परिग्रह में सम्पन्न की स्थिति में, जब तक वह स्थिति बनी रहती है व्यवहार्य ही नहीं है। वह तो तब शुरू होती है जब व्यक्ति अति-परिग्रह को या आवश्यकता से अधिक धन सम्पत्ति को समाज की सेवा में अर्पित कर, कम से कम आवश्यक परिग्रह से संतोष कर, अधिक परिग्रह-ग्रहण नहीं करता है अथवा अधिक परिग्रह मिल सकने की परिस्थिति में

भी उसे स्वीकार नहीं करना है। स्पष्ट रूप से यहाँ अपरिग्रहवाद की साधना में अग्रहण है, गृहीत का त्याग नहीं है, दान नहीं है।

दान निर्दोष नहीं है

दान यूं भी निर्दोष नहीं है कि उसे उच्चतम पद पर या अपरिग्रहवाद के आसन पर प्रतिष्ठित किया जा सके। जरा भी सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो उसमें सहज दोष भी हमें दिखेंगे। दान देने वाले में अहंवृत्ति व अनुग्रहमन्यता की भावना व्यक्त या अव्यक्त रूप से, सूक्ष्म या स्थूल रूप से, न्यूनाधिक मात्रा में, परिपुष्ट होती है, यशस्वी या दानवीर कहलाने का 'सन्तोष' मिलता है। इतना ही नहीं, स्वार्थ या उसके पाने व पनपने का भी बीज भी वहाँ होता है। दान देने पर दाता के हृदय पर जो दानी के विषय में प्रभाव पड़ता या उसका लिहाज होना स्वाभाविक है, उसका दुरुपयोग कर स्वार्थ-साधन करने के प्रलोभन में दानी के सहज ही फँसने की स्थिति नहीं है हो। इस तरह दान दाता के जीवन विकास को, अथवा व्यक्तित्व के सच्चे उत्कर्ष व परिष्करण को हानि पहुँचाने वाले घातक तत्त्वों से शून्य नहीं है। और जहाँ तक दान लेने वाले का सम्बन्ध है, दान स्पष्टतया एक गिराने वाली चीज है। दान किसी भी स्थिति में लिया जाय, दान लेने वाले में कृतज्ञता की या उपकृत होने की भावना आती ही है, और दाता के प्रति एक तरह की आदर व श्रद्धा की अनुभूति भी वहाँ जन्म ले लेती है। फिर धीरे धीरे दाता के प्रति एक ऐसी दृष्टि वहां अनजान में ही प्रवेश कर लेती है जिसे दाता के गुण बढ़ चढ़ कर दिखाई देने लगते हैं और उसके अवगुण या दोष दिखते ही नहीं हैं, या दिखते भी हैं तो गुणों के नीचे इस तरह दब जाते हैं कि गौण

या उपेक्षणीय समझे जाने लगते हैं, 'गुण-ग्रहण' की भावना वहाँ अवगुणों से निरपेक्ष रह कर दाता को गुणों का ही भंडार मानने लगती है। सचमुच दान लेने वाले में दीनता, भीरुता, अकर्मण्यता परावलम्बन भाव तथा कृतज्ञता जन्य चाटुकारिता या मानसिक दासता की भावनायें आकर उसे इतना दबकाती और हिलाती-डुलाती हैं कि उसके व्यक्तित्व का भीतरी विकास रुक जाता है, उसका स्वत्व छिन जाता है, उसका ओज, तेज व गौरव फीका पड़ जाता है। धन संग्रह या अति परिग्रह को प्रोत्साहन भी, सूक्ष्म व अव्यक्त रूप से, दान देता ही है, और इसमें परिग्रह को पाप मानने की भावना तो मिलती ही नहीं है, उसे पुण्य का साधन समझने का भ्रम भी अविलम्ब जकड़ लेता है। दान से दम्भ को भी प्रश्रय मिलता है, श्वान को गोमुख धारण करने का अवसर मिलता है। साथ ही धनोपार्जन या परिग्रह-ग्रहण के उपायों के औचित्यानौचित्य का प्रश्न भी दान की 'पुण्यशीलता' की छत्रछाया में गौण हो जाता है इस तरह से पापाजीविका का प्रायश्चित बन कर पाप को अभय दान दे देता है।

आदर्श क्या है ?

इस तरह आत्म-साधना की नीतिवादी दृष्टि से दान निष्कलंक नहीं है, बल्कि विचारपूर्वक देखा जाय तो दीर्घ कालीन दृष्टि से वह संयम भी नहीं है, कल्याणकारी भी नहीं है। अधिक से अधिक दान एक ऐसा मरहम है जो ऊपर ही जख्मों पर लगाया जाता है, पर खून में ही जो विकार है, उसे दूर नहीं कर पाता है। यह खून तो उस समता या सुव्यवस्था का आसव पाकर ही शुद्ध हो सकता है जो मरहम की लीपापोती को अनावश्यक बना दे। समाज का ऐसा नव निर्माण किया जाय

सकता है अतः बाह्य पदार्थ को लेकर अपनेपन या परायेपन की कल्पना करना असत्य का प्रश्रय देना और व्यक्तित्व को गिराना है।

[४] क्रोध, मान, माया, लोभ द्वेष, राग या ममत्व, मूर्च्छा, अहंकार, ये सभी अन्तर्विकार बाह्य पदार्थ का आश्रय लेकर व्यक्तित्व पर प्रहार करते हैं, अतः पदार्थ का उचित नियंत्रण आवश्यक है। पदार्थ का भोगोपभोग या उपयोग उतनी ही मात्रा में अथवा उसी रूप में हो कि ये भीतरी शत्रु उसका आलम्बन न पा सकें।

इस तरह अपरिग्रहवाद की दार्शनिक भूमिका सरल है, उसमें कहीं हेर-फेर या भुलावा नहीं है। सहज विचार व अनुभव की चीज है वह। ईश्वरवाद से उसे जोड़ना बेमानी है, परलोकवाद या कर्मफलवाद से भी उसका गठबन्धन नहीं है, और इस अपेक्षा से भाग्यवाद से इसका कोई नाता नहीं है। काल्पनिक धारणा या मान्यता को या अटकल बाजियों को कोई स्थान यहाँ है ही नहीं। यहाँ मनोविज्ञान की यथार्थता ही आधार भूत है। यह कहना सम्भवतः अतिशयोक्ति न होगी कि *अपरिग्रहवाद सच्चे अर्थों में जीवन विज्ञान है, साथ ही यह जीवन-कला भी है। यथार्थ में अपरिग्रहवाद सुखी जीवन की फिलासफी है।*[1]

अपरिग्रहवाद बनाम साम्यवाद

अपरिग्रहवाद के इस विवेचन से सहज ही हमारी दृष्टि साम्यवाद की ओर जाती है और तब अनायास यह प्रश्न सामने आता है कि यदि पूंजी का साम्राज्य मिटा कर, मानव-

जीवन को विध्वंसकारी संघर्ष, प्रतिस्पर्धा व प्रतिद्वंद्विता से दूर, सहयोग के सुदृढ़ आधार पर स्थित कर आर्थिक समानता को प्रतिष्ठित कर, एक वर्गहीन शोषण विहीन समाज व्यवस्था स्थापित करना अपरिग्रहवाद का लक्ष्य है तब उसमें और साम्य-वाद में क्या अंतर है?

साम्यवाद से क्या अभिप्रेत है?

साम्यवाद से हमारा अभिप्राय आर्थिक समानता की उस वैज्ञानिक विचारधारा से है, जिसके मूल प्रणेता मार्क्स हैं। इसे सामान्यत कम्युनिज्म या मार्क्सवाद कहते हैं। पर इस विचार धारा में और भी कितने ही गंभीर दार्शनिकों व विचारकों ने योगदान देकर इसे विकसित किया है इसलिये, तथा 'साम्यवाद' शब्द भावपूर्ण व अर्थपूर्ण होने से अधिक उपयुक्त है इसलिये भी, हम इसी नाम का प्रयोग करेंगे।

साम्यवादी विचारधारा के अंतर्गत समाजवाद आ ही जाता है। राष्ट्रीय समाजवाद, फेबियनिज्म गिल्ड समाजवाद, समष्टिवाद अराजकतावाद आदि की बारीकियों को लेकर वह अलग अलग रूपों में वहाँ विद्यमान है। पर हम इतनी गहराई में जाकर न उलझेंगे। हम साम्यवाद की मूलभूत समाजवादी विचारधारा को ही लें, जिसके सम्बन्ध में सभी साम्यवादियों में मतैक्य है, और उसी विचारधारा से अपरिग्रहवाद की तुलना में देखने का प्रयास करेंगे।

साम्यवाद का आधार

साम्यवाद की नींव अर्थ मूलक है पर 'अर्थ' का अर्थ यहाँ पैसा या धन-सम्पत्ति ही नहीं बल्कि हर वह पदार्थ है, जो-

नव संस्करण की बात है, या जहाँ तक साम्यवाद के स्वप्नों व आदर्शों का प्रश्न है, हर कोई उसे साधुवाद व आदर के भावों से ही देखेगा भले ही उसकी व्यावहारिक अथवा देश-काल की परिस्थितियों की अपेक्षा से उसके प्रगति क्रम या बाह्य रूपों के विषय में अथवा उसकी अपेक्षाओं व मर्यादाओं के सम्बन्ध में वह अपने अलग विचार रखे, या चाहे वह साम्यवादी विचारधारा तथा पद्धति के कुछ पहलुओं को पसन्द न करे। निर्विवाद रूप से *साम्यवाद के स्वप्नों का संसार महान है, स्वर्ग के समान सुखी है,* और इस अपेक्षा से यह कहा ही जा सकता है कि *साम्यवाद* मौलिक व दीर्घकालीन दृष्टि से एक अहिंसात्मक विधान है।

एक शंका

यहाँ स्वभावतः यह शंका उठ खड़ी होती है कि सामान्यतः भारतीय तथा अन्य साम्यवादियों की हिंसात्मक कार्य पद्धति अथवा उनके आतंकवादी कार्यक्रम को तथा उनकी गति-विधि व युद्ध-वृत्ति को देखते हुये यह मान्य करना कि साम्यवाद एक अहिंसात्मक सिद्धान्त या विधान है, कहाँ तक वस्तु स्थिति के अनुकूल है?

शंका निराधार नहीं है। सचमुच भावना और कृति का, आदर्श और व्यवहार का, यह घोर अंतर्विरोध हम द्विविधा में डालने के लिये अपर्याप्त भी नहीं है। पर यदि हम ऐतिहासिक अध्ययन की पद्धति से रूस में हुई साम्यवादी क्रान्ति पर दृष्टि डालें तो हम इस निर्णय पर आये बिना न रहेंगे *कि साम्यवादियों की हिंसात्मक नीति व कार्य पद्धति का मूल स्रोत साम्यवाद के सिद्धान्त या आदर्श में नहीं उन विशेष व असाधारण परिस्थितियों में है जिन में साम्यवादी क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।* आइये, एक दृष्टि डालें।

साधन की प्रभावशीलता

एकान्तिक रूप से साधन के किसी विशेष रूप का आग्रह नहीं किया जा सकता, न किया ही जाना चाहिये। पर यह एक खरी सच्चाई है कि साध्य के अनुरूप साधन न हो तो साध्य की साधना पूर्णतया निर्दोष एवं त्रुटिहीन नहीं हो पाती। विशेष विषम परिस्थिति की अपेक्षा से अपवाद उपादेय होकर भी नियम रूप से साध्य-साधन की एकरूपता ही उचित व श्रेष्ठ है, यही आदर्श भी है। साधन का प्रयोग जो भाव या विचार मन में लाता है अनिवार्यतः उसकी प्रतिक्रिया साध्य पर होती है। जहाँ *परिस्थितियां साधनों को सुनिश्चित करती हैं वहां साधन भी परिस्थितियों का निर्माण करते हैं, और जिन परिस्थितियों में कोई व्यवस्था जन्म लेती है, उनका इस व्यवस्था के व्यवहारिक स्वरूप पर, बल्कि उसकी विचारधारा पर और समस्त एक सीमा तक उसके मूल स्वरूप पर भी प्रभाव पडता ही है।*

रूस की साम्यवादी क्रांति

यही नियम काम कर रहा है साम्यवाद के जन्म और विकास को लेकर। जिस समय रूस में जारशाही का आतंक और दमन हद तक पहुंच गया था तथा सारे अधिकार निरंकुश आततायी जार और उसके गिने चुने अधिकारियों व सामन्तों के हाथों में थे, जनता की इच्छा अनिच्छा का कोई मूल्य न था, उसकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज थी, यही नहीं, वह बुरी तरह त्रस्त पीड़ित व अन्याय ग्रस्त थी और उसकी जुबान पर ताला लगा होने से वह उफ भी न कर सकती थी, तब साम्यवाद ने जारशाही के विरुद्ध जनता के असन्तोष व [

की भावनाओं को व्यक्त किया, उसने चारों ओर फैली हिंसा और अनीति को, जुल्मो सितम को, चुनौती दी, और सशस्त्र क्रांति का झंडा ऊँचा किया। परिणामत खून की नदियाँ बहीं और अन्तत जारशाही का तख्ता उलटा, मार्क्सवाद की प्रतिष्ठा हुई। इस परिस्थिति का इतना गहरा प्रभाव मार्क्सवाद के विचार प्रवाह पर पड़ा, जैसा कि पड़ना स्वभाविक भी था कि आतंकवाद लूटमार, खूँरेजी या सशस्त्र क्रान्ति, साम्यवाद का एक अनिवार्य अंग मानी जाने लगी, यद्यपि वस्तु-स्थिति यह है कि साम्यवाद का हिंसात्मक साधनों से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। स्वय कार्ल मार्क्स ने ही १८७० ई० के फर्स्ट इण्टरनेशनल (First International) में भाषण देते हुए कहा था—"हम यह दावा नहीं करते कि इस ध्येय तक पहुँचने का मार्ग सब जगह एक जैसा ही है। हम जानते हैं कि भिन्न देशों की संस्थाओं और रीति रिवाजों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि अमेरिका, इंगलैण्ड और यदि मैं आपकी व्यवस्था को भली भांति समझ रहा हूँ तो हालैण्ड भी, ऐसे राष्ट्र हैं, जहाँ मजदूर शांतिपूर्ण उपायों से अपना उद्देश्य की सिद्धि कर सकते हैं।" इस तरह मार्क्स के मतानुसार भी हिंसात्मक नीति या कार्य पद्धति अनिवार्य रूप से साम्यवादी विचारधारा का अंग नहीं है। ठीक भी है। बाहर से नहीं, भीतर से बल्कि जड़ मूल से, हिंसा के सभी कारणों व मूल स्रोतों को नि शेष करने का दावा करने वाला साम्यवाद हिंसात्मक नीति को अपनाने का एकान्तिक रूप से आग्रह करे यह जँचने वाली बात नहीं है यहाँ तक कि यदि कोई ऐसा हठ करता भी है तो यही मानना होगा कि वह मूढ़ता-वश अपनी विचारधारा की जड़ों पर ही आघात कर रहा है या उसे अपने आदर्श म सजीव आस्था ही नहीं है।

अपरिग्रहवाद साम्यवाद

अपरिग्रहवाद और साम्यवाद की सैद्धान्तिक विचारधाराओं को जान लेने के उपरान्त दोनों का तुलनात्मक निरीक्षण करें तो हम देखेंगे कि आश्चर्यजनक रूप में दोनों वाद एक दूसरे के निकट ही हैं, बल्कि बहुत अंशों में वे एक दूसरे के पूरक भी हैं। तभी हम यह भलीभांति समझ सकेंगे कि दोनों में मौलिक अंतर या भेद 'नहीं' के बराबर है, जो भेद है वह ऊपरी है, गौण है।

समानतायें

अपरिग्रहवाद के मूल में यह भाव है कि व्यक्ति किसी बाहरी पदार्थ में निजत्व या स्वामित्व का, तज्जन्य मोह ममत्व का भाव न रखे और इधर साम्यवाद वैयक्तिक सम्पत्ति का अंत करता है और ऐसी स्थिति लाता है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी पदार्थ को 'अपना ही' न कह सके अथवा उसमें उसकी विशेष आसक्ति या मूर्छा आदि न हो। समाज की सारी सम्पत्ति व सम्पत्ति-निर्माण या उत्पादन के समस्त स्रोत व साधन सामूहिक रूप में समाज द्वारा ही अधिकृत हों, या यूं कहें कि समस्त सम्पत्ति का स्वामी कोई विशेष व्यक्ति, वर्ग या कोई भी संकीर्ण जन समुदाय न होकर सारा ही समाज हो, तब सहज ही व्यक्ति की पदार्थों के प्रति समदृष्टि होगी, वह उनका उपयोग या भोगोपभोग करते हुये भी बहुत-कुछ निर्लिप्त या अनासक्त रह सकेगा, संचय या अति-संग्रह की लालसा व वासना उसके मन में हिलोरें न लेगी मोह ममत्व, तृष्णा, प्रतिस्पर्धा धन मद, अहंकार, पापाजीविका या अनीतिपूर्ण धनोपार्जन, आदि परिग्रह-जन्य कलुषित वृत्तियों प्रवृत्तियों के लिये अनुकूल

वातावरण न रह जायगा। व्यक्ति के अनिष्टकाम द्वारा सामूहिक रूप से समाज की हानि होने की परिस्थिति वहाँ न होने से लोभ व लिप्सा पर लगाम लगेगी शोषण अव्यवहार्य होगा, पारस्परिक प्रतियोगिता व प्रतिद्वन्द्विता न होने से शक्ति व समय का दुरुपयोग रुकेगा, और मिल जुल कर निर्माणकारी कार्यों के सम्पादन की प्रेरणा बलवती होगी, तथा स्वार्थों की टक्कर होने की संभावना न होने से युद्धों की विभीषिका का अंत होगा।

अपरिग्रहवाद व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक पदार्थ या धन-सम्पत्ति रखने का निषेध करता है, और साम्यवाद भी यही चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करे और अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोग या भोगोपभोग की सामग्री पाए। इस तरह योग्यतानुसार देने और आवश्यकतानुसार लेने की यह साम्यवादी नीति ऐसी व्यवस्था को जन्म देना चाहती है जिसमें व्यक्ति आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह नहीं कर सकेगा। वहाँ उचित उपयोग या भोगोपभोग के लिये ही स्थान होगा, और स्पष्टतः इस औचित्य में विकार नहीं है, मोह नहीं है ममत्व या आसक्ति नहीं है। वहाँ पदार्थ हैं पर परिग्रह नहीं है।

अपरिग्रहवाद और साम्यवाद में एक महत्त्वपूर्ण समानता यह है कि ये दोनों ही सिद्धान्त एक और अखण्ड मानवता की भावना पर स्थित हैं, दोनों की दृष्टि सार्वत्रिक व सार्वभौमिक है। परिग्रह के पीछे विषम दृष्टि है, एक पदार्थ के प्रति विशेष आसक्ति या लिप्सा है, और निश्चय ही जब तक सहानुभूति व आत्मीयता का वृत्त विश्व व्याप्त न हो, सारा ही मानव-जगत, बल्कि

प्राणी-जगत अपने दृष्टि-विस्तार का क्षेत्र न हो, रंग, राष्ट्र नस्ल, जाति, परिवार आदि सीमाओं का अतिक्रमण कर आत्मानुभूति सब में अपने को और अपने में सब को लय न करे या स्व-पर में परस्पर विलीनीकरण न हो मेरे तेरे का भेद-भाव या अपने-पराये की कल्पना निःशेष न हो, तब तक परिग्रह रहेगा, अपरिग्रह-वाद आत्मसात् न हो सकेगा। जो व्यक्ति संकीर्ण जातीयता, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिकता या स्व सांस्कृतिकता में मोहासक्त है, उसके लिये उस की जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय व संस्कृति परिग्रह-रूप ही हैं। ऐसा व्यक्ति भले ही अपनी सम्पत्ति पर लात मार कर 'साधु संन्यासी' हो जाए पर उसके जीवन में अपरिग्रह की साधना न है, न हो सकती है। इधर साम्यवाद की जो कल्पना या योजना है, उसके मूल में ही यह मान्यता है कि सर्वजन समाज एक महान् व्यक्ति है और कोटि-कोटि मानव व्यक्ति उसके अंग हैं। यहाँ समष्टि के हित का प्रश्न सदैव व्यक्ति की लालसाओं या महत्त्वाकांक्षाओं पर एक बंधन है। यही नहीं, साम्यवाद की विचार-धारा ही अन्तर्राष्ट्रीय है। उसके अन्तर्गत अखिल विश्व को एक राष्ट्र बनाने का प्रश्न सर्व प्रधान है, और संकीर्ण राष्ट्रवाद का वहाँ नाम भी नहीं है। समस्त संकीर्ण स्वार्थों का त्याग तथा मानव मानव की और नर-नारी की समानता यहाँ प्रतिष्ठित है।

एक ही सत्य के दो बाजू

इस तरह जितना ही अपरिग्रहवाद और साम्यवाद को हम भीतर ही भीतर टटोलेंगे हम देखेंगे कि साम्यवाद बड़े से बड़े पैमाने पर समाज की व्यवस्था ऐसी बना देना चाहता है, जिसमें व्यक्ति निष्परिग्रही हो। निस्संदेह साम्यवाद में अपरिग्रहवाद

के सर्वोत्कृष्ट सार्वजनिक रूप के निर्माण की उपादान सामग्री विद्यमान है, यहाँ तक कि सम्भवतः यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि साम्यवाद अपरिग्रहवाद का सामाजिक संस्करण है। वैयक्तिक अपरिग्रहवादी भावना को सामाजिक दृष्टि से किसी विधान या योजना में मूर्तिमान किया जाय, तो निश्चय ही वह साम्यवादी योजना से, समय समय व स्थान-स्थान की बाह्य परिस्थितियों की विषमताओं के परिणाम-स्वरूप अनिवार्य रूप से होने वाले भेद या अंतर के बावजूद मौलिक रूप से प्रायः समान ही होगा, और तब यह सुस्पष्ट होगा कि ये दोनों ही बात एक ही सत्य के दो बाजू हैं। अंतर इतना ही है कि एक की दृष्टि व्यक्ति-प्रधान है, दूसरे की समाज प्रधान है।

एक दूसरे के पूरक

एक बात और है। अपरिग्रहवाद और साम्यवाद, दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं। अपरिग्रहवाद कहता है कि व्यक्ति आवश्यकता के अनुसार ही सामग्री या धन सम्पत्ति ग्रहण करे पर उस आवश्यकता के मापदण्ड का निर्देशन साम्यवाद करता है। वह कहता है कि व्यक्ति की आवश्यकता समाजानुमोदित होनी चाहिये। व्यक्ति को ही निर्णय का अधिकार न देकर वह 'आवश्यकता' को रबड़ की तरह खींचने की आशंका को निर्मूल कर देता है। फिर, अपरिग्रहवाद समाज-निर्माण में हाथ बँटाने के विषय में व्यष्टि द्वारा समष्टि को अपनी देन देने के सम्बन्ध में, मौन सा ही है। साम्यवाद इस कमी को पूरा करता है। प्रवृत्यात्मक पक्ष पर जोर देकर वह अपरिग्रहवाद के निवृत्यात्मक पक्ष को सतुलन करता है। यूं भी कह सकते हैं कि साम्यवाद अपरिग्रह के अतिवाद पर या अपरिग्रहवादी भावना के दुरुपयोग व उन्माद पर

प्रतिबंध लगाता है। अपरिग्रह के नाम पर मनुष्य को जडवत्, निरर्थक कष्ट सहन करने वाला, अनुद्योगी या अकर्मण्य स्वकेंद्रित व स्वार्थी कायर, भगेडू, पलायनवादी या उपेक्षावादी बनने की जो आंधी संयम, त्याग, तपस्या और आत्मशुद्धि के नाम पर चली है तथा मुफ्तखोरी और हरामखोरी का जो बाजार अपरिग्रह की दुहाई के बल पर निवृत्तिवाद के मंच तले गरम हुआ है साम्यवाद उसका अन्त कर देना अथवा श्रम व स्वावलम्बन के आदर्श से ऐसे जीवन व्यक्ति को माना बना देना चाहता है। यहाँ सामाजिक या सार्वजनिक भावना से अथवा निष्काम व निर्लिप्त भाव से कर्तव्य-पालन की परिस्थिति है। श्रम यहाँ गौरवान्वित है। स्वावलम्बन यहाँ प्रतिष्ठित है। निवृत्ति के एकान्तवाद को यहाँ प्रश्रय नहीं है।

प्रश्न—क्या ऐसे सामंजस्य में त्याग तपस्या व भावना के निवृत्ति-मार्ग के लिये स्थान नहीं है?

उत्तर—नहीं। कोरी निवृत्ति अनावश्यक कष्ट सहन ही नहीं है, यह विश्व-हित की भावना अथवा पर-हित की साधना के प्रतिकूल भी है। कोरी प्रवृत्ति भी इसी तरह सदोष है। सत्य व कल्याण किसी एक में नहीं, दोनों के संतुलन में है। आदान-प्रदान की आधार शिला यही है नीतिवाद का प्राण भी यही है। मैं किसी से लूं और लेता ही रहूँ उसे कुछ न दूं, यह नहीं चल सकता न चलना ही चाहिए। परस्पर लेन देन के आधार पर ही यह समाज और संसार स्थित है, यह जीवन टिका हुआ है। एक व्यक्ति समाज का परित्याग करे, जग को मिथ्या या माया कह कर उस से नाता तोड़ने का दावा या अभिनय करे पर उस के उपरान्त भी वह दुनिया से लेता ही रहे और

का नाम न ले तो यह उसकी अनधिकार व असह्य चेष्टा ही है। जो दुनिया को देने के कर्तव्य के प्रति उदासीन है, वह दुनिया से लेने के अधिकार का उपभोग नहीं कर सकता। कर्तव्य और अधिकार की जोड़ी है। जिसका दुनिया के प्रति कोई कर्तव्य नहीं, उस का दुनिया पर कोई अधिकार भी नहीं होना चाहिये। कर्तव्यहीन अधिकार का उपयोग शोषण है, अन्याय है पाप है। दुनिया को देख जिस नाक भौं सिकोड़नी है, उसका समाज में रहना, समाज का एक अंग बन कर और इस अपेक्षा से समाज पर टिक कर रहना असहनीय है। किसी को किसी पर भार बनने का अधिकार नहीं है। स्वावलम्बन सामाजिक जीवन की आधार शिला है और जो इस शिला को चूर्ण करता है, वह समाज व्यवस्था की जड़ों को हिलाता और मानव-जीवन को रौंदता है। निवृत्ति मार्ग का पथिक यही अनधिकार चेष्टा करता है। उस की साधना के ताने बाने का तार तार समाज की देन है। उसकी चर्या, भोजन विधि अथवा उसका सारा ही जीवन-यापन समाजाश्रित है। सच तो यह है कि वह कर्तव्य-पक्ष की अपेक्षा से ही निवृत्तिवादी है, अधिकार पक्ष का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह प्रवृत्तिगामी ही है। कहने की जरूरत नहीं है कि यह दुरंगी नीति नहीं चल सकती और न इसे चलने देना ही चाहिये।

प्रश्न—आपने सामाजिक दृष्टि से ही विचार किया है। व्यक्तित्व के परिष्करण अथवा आत्म-निमज्जन की दृष्टि से देखने पर आप निवृत्ति-मार्ग को प्रशस्त रखने या करने के पक्ष में ही अपना मत देंगे।

उत्तर—नहीं। आत्म-कल्याण निवृत्तिमूलक ही नहीं है। उसका एक प्रवृत्यात्मक पक्ष भी है और वह भी उतना ही सबल

है। दूसरों से हटकर या स्वकेन्द्रित होकर आत्म-कल्याण [illegible]
निज-हित की साधना नहीं चल सकती। आधिभौतिक [illegible]
साधन के लिये तो निर्विवाद रूप से यह सर्वमान्य [illegible]
वस्तु स्थिति यह है कि आध्यात्मिक कल्याण की दृष्टि से भी [illegible]
एक खरी सच्चाई है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष [illegible]
इन सभी कषायों व दुर्वासनाओं को या आत्मा के [illegible]
व विकारों को मिटाने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि [illegible]
दृष्टि से ही उन्हें अव्यवहार्य बना दिया जाय। [illegible]
सहज मिटाना ही सच्चे अर्थों में उन्हें मिटाना है। [illegible]
परिस्थितियों में व्यक्ति रहे, जो क्रोध, मान, माया, [illegible]
बुराइयों का क्रीडास्थल हो और वहाँ रहते हुए [illegible]
करने का अभ्यास सतत् करता रहे और इस [illegible]
परिणाम स्वरूप वह अपना हृदय इतना [illegible]
बना सके कि उन सब परिस्थितियों में रहते हुए [illegible]
व अनासक्त रहे, जल में कमल की तरह [illegible]
ऊपर रहे, यह अवस्था ही सचमुच वीतरागता [illegible]
शान्त वातावरण व एकान्तवास में [illegible]
सस्ती है, सच्ची साधना नहीं हो सकती। [illegible]
तूफान के बीच अचल बने रहना [illegible]
साधना राग द्वेष के विरुद्ध निरन्तर [illegible]
विजय पाने में है। राग द्वेष के [illegible]
कमजोरी को उभारने से रोका जा सकता [illegible]
किया जा सकता। कषाय-भावना [illegible]
है। उसे मूल से मिटाना और उसके [illegible]
मार्ग अवरुद्ध करना ही सच्ची [illegible]
निश्चय ही [illegible] में ही।

प्राप्त हो सकती है, और इस अपेक्षा से *आत्मकल्याण की साधना में प्रवृत्ति का भी अपना योगदान है।* इस तरह सामाजिक दृष्टि से ही नहीं, वैयक्तिक दृष्टि से भी, अथवा आत्म कल्याण की अपेक्षा से भी, *निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का संयोग व सन्तुलन ही श्रेष्ठ है।* जहाँ कोरी प्रवृत्ति अनर्थ-मूलक है वहाँ कोरी निवृत्ति भी एक-पक्षीय और आत्म-घातक है। अतः वैयक्तिक हित-साधन या आत्म कल्याण की दृष्टि से भी कोरे निवृत्ति-मार्ग की खुली छूट नहीं दी जा सकती अथवा किसी को भी समाज पर भार बन कर रहने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

इस तरह हम देखते हैं कि साम्यवाद मूलतः अपरिग्रहवाद का संशोधन व परिष्करण करने की क्षमता रखता है। ठीक इसी तरह अपरिग्रहवाद भी साम्यवाद की त्रुटियों व विकृतियों को हटाने अथवा उसे परिष्कृत व पूर्ण बनाने का सामर्थ्य रखता है। *जहाँ अपरिग्रहवाद निवृत्ति की अति से पीड़ित है, वहाँ साम्यवाद को भी प्रवृत्ति के उन्माद का रोग लगा हुआ है,* और इसका इलाज अपरिग्रहवाद से उसका संयोग व सन्तुलन ही है। साम्यवाद ने जीवन के आर्थिक पहलू पर अत्यधिक जोर दिया है, यहाँ तक कि आर्थिक जीवन के विकास-क्रम में ही वह इतिहास निर्माण देख पाता है और इस अपेक्षा से वह मनुष्य को इतिहास का निर्माता नहीं, वरन् एक कठपुतला या यंत्र मात्र मान लेता है। यहाँ पूर्ण सत्य नहीं अर्ध-सत्य है। अपरिग्रहवाद व उस की अध्यात्ममूलक दृष्टि इस भ्रम को दूर कर इतिहास-निर्माता मानव की मानवीयता का सच्चा स्वरूप प्रकट कर सकती है। फिर, अधिकाधिक उत्पादन का अंध-उन्माद साम्यवाद पर सवार न हो जाए, जनहित-विरोधी तथा सुख व शांति का आघात करने वाले शस्त्रास्त्र,

विलास के कृत्रिम साधन, एवं औचित्य व आवश्यकता का ध्यान न रखकर पदार्थ-उत्पादन न हो, झूठ सुख का भुलावा या मृग तृष्णा उत्पन्न कर तथा आत्म स्थित सुख स्रोत की अपेक्षित कर बाह्य पदार्थों में ही सुख ढूँढने की महामारी न फैले, इसके लिए निश्चय ही अपरिग्रहवाद बहुत उपयोगी व सार्थक है। यद्यपि साम्यवाद मानसिक व बौद्धिक उन्नति के प्रश्न की अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखता है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उसमें भौतिकवादी विचारधारा की प्रधानता है जब कि अपरिग्रहवाद में भौतिकवाद उसी सीमा तक मान्य या सह्य है जहाँ तक बाह्य पदार्थों की नैमित्तिकता अनिवार्य या अपरिहार्य है। इस तरह प्रधानतः एक भौतिकवादी और दूसरी अध्यात्मवादी विचारधारा है और इस अपेक्षा से दोनों का संतुलन या सामंजस्य परम इष्ट व श्रेय है। दोनों साम्यवाद व अपरिग्रहवाद अध्यात्म-साम्यवाद की संगमधारा प्रवाहित कर बाहर भीतर दोनों ओर से व्यष्टि व समष्टि दोनों की अपेक्षाओं से अथवा हर दृष्टि से प्रवृत्ति निवृत्ति में समन्वय लाकर मानव जीवन को सुखी व समृद्धिशाली बनाने में जुटें मानव-देह को, साथ साथ ही मन मस्तिष्क अथवा आत्मचेतना को भी, निरोगी व बलिष्ठ बनाने के कार्य में मिल कर संलग्न हों, तो कोई कारण नहीं कि जीवन-कुसुम विकसित होकर चेतन-जगत में सुख-सौरभ व्याप्त न हो, अथवा आदर्श समाज, तथा उस में सुखी व निराकुल, एवं प्रेम, सद्भावना व मानवता से ओत प्रोत मानवीय जीवन सुलभ न हो।

प्रश्न—आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता मिलाने से क्या आध्यात्मिकता भ्रष्ट न होगी? अध्यात्मवाद के महत् आदर्शों पर ही जीवन को स्थित क्यों न किया जाय? आखिर, भारत

की परम्परा भी यही है। भारत अध्यात्म प्रधान देश है। क्या आप चाहते हैं कि भारतीय मानव कुत्ते के समान पेट-भरू जीवन को आदर्श समझ कर भिखमगों की तरह रोटी का सवाल रखे और इस तरह मानवता की निकृष्ट कल्पना कर अपनी अध्यात्मवादी परम्परा पर भौतिकवाद की कालिमा लगाये ?

उत्तर—पहिले तो यहाँ यही प्रश्न खड़ा होता है कि आध्यात्मिकता वास्तव में है क्या ? निश्चय ही वह आत्मा या व्यक्तित्व के अन्तर्लोक से अपेक्षित कोई विराट भाव या अनुभूति होनी चाहिये। ईश्वरवाद से उसका अनिवार्य सम्बन्ध मान्य नहीं किया जा सकता। जैन और बौद्ध परम अध्यात्मवादी हैं, पर वे अनीश्वरवादी हैं। सभी प्राणी ईश्वर पिता की सन्तान हैं, अत भाई भाई हैं या प्रत्येक प्राणी में एक-सी आत्मा है, अत सब समान हैं, ये दोनों ही अध्यात्मवादी विचारधारायें सारे प्राणी जगत में साम्य व अभेद-भावना लाती हैं, विशेषतया मानव जाति की एकता व अखण्डता की मान्यता को पुष्ट करती हैं। सत्मेव जयते, सत्यम शिवम् सुन्दरम्, अहिंसा परमो धर्म, जियो और जीने दो (Live and Let Live), वसुधैव कुटुम्बकम्, आदि सभी महामंत्र इसी अध्यात्म-तत्व का विशदीकरण करते हैं। प्रेम, दया, शान्ति, सेवा, सहयोग, ये सभी शब्द आध्यात्मिकता के भाव-मूलक तत्वों का ही प्रकटीकरण करते हैं। निश्चय ही ऐसी महान् अनुभूति, भावना या विचारधारा से निरपेक्ष आध्यात्मिकता विडम्बना ही कही जा सकती है। कोई भूखा न मरे, कोई बेकार, ठाली और निकम्मा न हो, कोई अपढ या अज्ञानी न रहे, कोई शोषित, त्रस्त व पद दलित न हो, ये मजुल व सुमधुर भाव आध्यात्मिकता से अभिन्न होने ही चाहिये। हिंसा-प्रतिहिंसा, शोषण, पराधिकार-

अपहरण या औचित्य की सीमा से अधिक स्वलाभ की स्वार्थ-लिप्सा, ऊँच नीच के भेद भाव की अहंकार मय निकृष्ट कल्पना, ईर्ष्या, स्पर्द्धा व शत्रुता की कुत्सित भावना, छल कपट व बेईमानी की नीति, किसी भी मनुष्य को उसके मनुष्योचित जन्म सिद्ध अधिकारों को न देने का दुराग्रह, निरीह व निर्दोष प्राणियों को पीड़ित व प्रताड़ित करने की राक्षसी वृत्ति और ऐसी सारी बाहियात बातें, चाहे वे किसी भी नाम या दुहाई को लेकर की जायें, अथवा उनके पीछे कितनी ही लम्बी परम्परा का पीठबल हो, आध्यात्मिकता, सच्ची आध्यात्मिकता, के लिये अस्पृश्य न हों तो कौन इसे दूर से ही प्रणाम न करेगा ? और इन खुराफातों से पाक साफ आध्यात्मिकता के मानवतामय आत्म शुद्ध प्रधान वास्तविक स्वरूप के आगे कौन नत मस्तक न होगा ?

पर ये आध्यात्मिकता की दुहाई देने वाले इस सच्ची आध्यात्मिकता को मानते ही कहाँ हैं ? वस्तुतः ये बस आध्यात्मिकता का राग अलापना भर ही जानते हैं ? सच्ची आध्यात्मिकता को प्रतिष्ठित कर भौतिकता के इस उन्माद को मिटाने की, जो जगत में युद्धाग्नि भड़काता रहा है और जिसके सिर पर असंख्य नर-नारियों का खून सवार है उन्हें चिन्ता नहीं है। आध्यात्मिकता की अति विकृति या उन्माद में हवाई बातें करना रहस्यवाद का आश्रय लेना अस्पष्ट या गोलमाल और भुलावा देने वाली परिभाषाओं में भोले भाले लोगों को डालना, धर्म और संस्कृति की लम्बी चौड़ी बातें बनाना, पूर्वजों व परम्परा की अन्धोपासना करना, बस यहीं इनकी आध्यात्मिकता सिमट कर रह गई है। आध्यात्मिकता का स्पष्ट स्वरूप ये ... सामने क्या रखेंगे इनके सामने भी वह

की परम्परा भी यही है । भारत अध्यात्म प्रधान देश है। क्या आप चाहते हैं कि भारतीय मानव कुत्ते के समान पेट-मरू जीवन को आदर्श समझ कर भिखमंगों की तरह रोटी का सवाल रखे और इस तरह मानवता की निकृष्ट कल्पना कर अपनी अध्यात्मवादी परम्परा पर भौतिकवाद की कालिख लगाये ?

उत्तर—पहिले तो यहाँ यही प्रश्न खड़ा होता है कि आध्यात्मिकता वास्तव में है क्या ? निश्चय ही वह आत्मा या व्यक्तित्व के अन्तर्लोक में अपेक्षित कोई विराट भाव या अनुभूति होनी चाहिए। ईश्वरवाद से उसका अनिवार्य सम्बन्ध मान्य नहीं किया जा सकता। जैन और बौद्ध परम अध्यात्मवादी हैं, पर वे अनीश्वरवादी हैं। सभी प्राणी ईश्वर पिता की सन्तान हैं, अत भाई भाई हैं, या प्रत्येक प्राणी में एक-सी आत्मा है, अत सब समान हैं, ये दोनों ही अध्यात्मवादी विचारधारायें सारे प्राणी जगत में साम्य व अभेद भावना लाती हैं, विशेषतया मानव-जाति की एकता व अखण्डता की मान्यता को पुष्ट करती हैं। सत्मेव जयते, सत्यम् शिवम् सुन्दरम्, अहिंसा परमो धर्म, जियो और जीने दो (Live and Let Live), वसुधैव कुटुम्बकम् आदि सभी महामंत्र इसी अध्यात्म-तत्व का विशदीकरण करते हैं। प्रेम, दया, शान्ति, सेवा, सहयोग, ये सभी शब्द आध्यात्मिकता के भाव-मूलक तत्वों का ही प्रकटीकरण करते हैं। निश्चय ही ऐसी महान् अनुभूति, भावना या विचारधारा से निरपेक्ष आध्यात्मिकता विडम्बना ही कही जा सकती है। कोई भूखा न मरे, कोई बेकार, खाली और निकम्मा न हो, कोई अपढ या अज्ञानी न रहे, कोई शोषित, त्रस्त व पद दलित न हो, ये मंजुलतम सुमधुर भाव आध्यात्मिकता से अभिप्रेत होने ही चाहिये। हिंसा प्रतिहिंसा, शोषण, पराधिकार-

आध्यात्मिकता का उन्माद वे नहीं समझ पा रहे हैं, और इसीलि
वे इन खुराफातों को भी ठीक तौर पर नहीं देख पाते हैं जिन्हे
उन्माद ने जन्म दिया है। उदाहरण के लिये वर्ण व्यवस्था
उस खूनी व फौलादी पंजे को देखिये जो आध्यात्मिकता
मखमली दस्तान में छिप कर करोड़ों नर नारियों के लिये
पृथ्वी को नरक बनाता रहा है, और अभी भी बहुत कुछ ब
हुये है। स्त्री का उदाहरण लें तो यहाँ भी यही अत्याचार
अध्यात्मवाद के नाम पर स्त्री को खूब रौंदा गया है,
पीड़ित व पद दलित किया गया है, यहां तक कि स्त्री-नामध
व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व ही समाप्त कर दिया गया
बाह्य क्रिया काण्ड के उत्पीड़न व निरर्थक कष्ट-सहन की प्र
भी खूब चली है 'अध्यात्मवाद' की छत्रछाया में। साथ ही बु
वाद या तर्क से काम न लेने की, अंधश्रद्धा में विवेक भ्रष्ट
मूढताओं में डूब जाने तथा आंख मींच कर अन्धानुसरण क
की, क्या कम प्रेरणा दी है इस 'आध्यात्मिकता' ने ? और
कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं 'आध्यात्मिकता'
विनाशकारी लीला के। इतनी हत्यायें हुई हैं, इतने अन्या
अत्याचार हुये हैं कि उनकी गणना भी मानवीय शक्ति म
है। सचमुच जहाँ तक हमारे इस 'अध्यात्म प्रधान' देश
सम्बन्ध है, आध्यात्मिकता की कमी ने नहीं, उसकी अति
विकृति ने सर्वनाश किया है। आध्यात्मिकता का यह नश
उन्माद मिटे सच्ची आध्यात्मिकता की ज्योति हमारे जीव
जगमगाये, जरूरत इस बात की है, पर हम कर
रहे हैं, कि आध्यात्मिकता की दुहाई देकर फिर उसी नशे
सिर पर सवार करना चाहते हैं, जो शायद आज कुछ उ
लगा है। खैर !

रहा रोटी का प्रश्न। इसे भिखमँगी या मानवता की निकृष्ट कल्पना कहने में कल्पना जगत की आध्यात्मिक दृष्टि को भले ही संतोष दे दिया जाय पर यथार्थता, वास्तविकता और सत्य के प्रति इस से न्याय नहीं हो सकता। अध्यात्मवाद की बातें भी तभी होती हैं जब पेट भरा होता है। जो भूखा है, उसे पहिले रोटी चाहिये, अध्यात्मवाद की लम्बी चौड़ी बातें नहीं। स्वयं पेट भर कर भूखों को आध्यात्मिकता का उपदेश देना और वे रोटी का प्रश्न सामने रखें तो उस पर उन्हें कुत्ता और भिखमंगा कहना अधिम श्रेणी की क्षुद्रता है। जहाँ न्यायोचित अधिकार लेने का प्रश्न है, वहाँ भीख मांगने की वृत्ति कैसी? भीख के लिये तो स्थान वर्ण-व्यवस्था में है, बल्कि भीख भिक्षा या दान तो उसका आधार ही है। रोटी का सवाल तो उस भिखमंगी का अंत कर, मुफ्तखोरी और हरामखोरी को मिटाकर, श्रम को प्रतिष्ठित कर तथा आवश्यकता के अनुसार खाद्य व भोगोपभोग की सामग्री पाने का सवाल है। कुत्ते या पशु की तरह रोटी की भीख मांगना और जो टुकड़ा मिल जाय, उसी में संतुष्ट रहना, यह पशुता छोड़ कर आज का भूखा मनुष्य मानवोचित रूप से पेट भर खाने का अपना अधिकार मांग रहा है, और इस तरह वर्ण-व्यवस्था तथा 'आध्यात्मिकता' की बहकी हुई बातों ने जिस मनुष्य को हजारों वर्षों से कुत्ता बना रखा था, अब वह कुत्ता मनुष्य बन रहा है।

रही भौतिकता की बात। मनुष्य शरीरधारी है, इसी लिए शरीर के टिकने का प्रश्न उस की खुराक का प्रश्न, उस के जीवन व संरक्षण का प्रश्न ही उस का सब से बड़ा प्रश्न है। आवश्यकता व औचित्य की सीमा तक खाद्य व अन्य सामग्रियां उपजाने, पाने और काम में लाने का प्रश्न, रोटी

कपड़े का सवाल, जरा भी हास्यास्पद नहीं है, अतः उसे मोटी दृष्टि से देखने का अभिनय दम्भपूर्ण है, मायाचार है। हाँ यह तो कहा जासकता है कि भोगोपभोग की अत्यधिक लालसा न होनी चाहिए बाह्य पदार्थों की ममता न होनी चाहिए, पदार्थ हमारे लिए रहें पर हम पदार्थों के लिए न रह जाने चाहिए, मतलब यह कि भौतिकता की अति न होनी चाहिये। इसीलिए हमने आध्यात्मिकता की उपयोगिता समझी है और भौतिकता के साथ उस मिलाकर रोना न सामंजस्य पर जोर दिया है।

प्रश्न—आत्म-स्वातन्त्र्य या व्यक्ति की स्वतन्त्रता अध्यात्म-मूलक अपरिग्रहवाद का एक मौलिक तत्व है। पर साम्यवादी व्यवस्था में व्यक्ति एक मशीन का पुर्जा मात्र है, जड़वत् है, गुलाम है, यहाँ तक कि वह स्वेच्छा से न सम्पत्ति रख सकता है, न धनोपार्जन कर सकता है। भला, क्या आजादी और गुलामी के बीच भी सामंजस्य होना सम्भव है ?

उत्तर—आज रूस में साम्यवाद का प्रयोग जिस रूप में किया जा रहा है उसे ही दृष्टिगत कर यह आरोप किया गया है कि साम्यवादी व्यवस्था में व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिये स्थान नहीं है, पर वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। वास्तव में वहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जो कुछ अपहरण यथार्थ में हुआ है वह साम्यवाद ने नहीं तानाशाही या डिक्टेटरशिप ने किया है और साम्यवाद का कोई अनिवार्य अविनाभाव या कारण कार्य सम्बन्ध तानाशाही से नहीं है। सच यह है कि साम्यवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है पर वह निश्चय ही व्यक्ति की उस स्वतन्त्रता का घोर विरोधी है जो दूसरों की कमाई हड़पना, दूसरों का शोषण करना, सिखाती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता वहीं तक सीमित रहनी चाहिये

वैयक्तिक सम्पत्ति परिग्रह है

परिग्रह की इस कसौटी पर वैयक्तिक सम्पत्ति के प्रश्न को कसें तो हम इस निर्णय पर आए बिना न रहेंगे कि सम्पत्ति व तद्‌जन्य अर्थ-व्यवस्था परिग्रह-मूलक ही है। आखिर, वैयक्तिक सम्पत्ति वही सम्पत्ति है जिस पर व्यक्ति विशेष का एकाधिकार हो, और स्पष्टतः ही जहाँ एकाधिकार है वहाँ अपनत्व की, मेरे पन की, गूढ़ भावना होना अनिवार्य ही है। एक पदार्थ पर मेरा ही स्वत्व है तो स्वभावतः मैं उसे विशेषरूप से चाहूँगा, उसे खूब सम्भाल कर रखूँगा, उसकी चौकीदारी करूँगा, उसके खो जाने या चोरी चले जाने पर दुःखी होऊँगा, कोई उसे जबरदस्ती लेना चाहेगा तो उस से लड़ूँगा, कोई धोखे से ले लेगा तो उस पर मुकदमा दायर करूँगा तथा वह व्यर्थ भी पड़ा रहे तो भी दूसरों को उसका उपभोग या उपयोग न करने दूँगा अथवा यदि करने दूँगा, तो यह उन पर अपना अहसान समझूँगा। यही सब मूर्च्छा है ममत्व है आसक्ति है, और इसी का नाम परिग्रह है।

वैयक्तिक सम्पत्ति, व्यक्ति व समाज, दोनों के लिए अहितकारी व घातक है

फिर, साथ ही वैयक्तिक सम्पत्ति विषमतामूलक तथा समाज के लिये दुखदायी है। वह योग्यतानुसार सबको समान अवसर देने में बाधक होने से अन्यायमूलक भी है। सौ में दस-पाँच व्यक्ति ही सम्पत्ति के बल पर साधन-सम्पन्न होने से ऐसे अवसर पा सकते हैं, शेष व्यक्ति हर प्रकार योग्य होने पर भी इसीलिये वंचित रह जाते हैं कि उनके पास 'सम्पत्ति' नाम की चीज नहीं है। यह समाज के बहुभाग का अथवा सामूहिक

दृष्टि मे समस्त समाज का कितना बड़ा अहित या सर्वनाश है ? फिर, इन साधन-सम्पन्न सम्पत्तिशाली व्यक्तियों का भी क्या सच्चा विकास हो पाता है ? क्या व्यक्तित्व के वास्तविक या अन्तर्मुखी विकास के बीज वहाँ हैं ? सम्पत्ति का जकड़ा हुआ व्यक्तित्व भी कोई सजीव व्यक्तित्व है ?' व्यक्ति के पास क्या और कितने बाह्य पदार्थ हैं इसके आधार पर उसके व्यक्तित्व का निर्णय क्या ठीक है ? वास्तव में इस वैयक्तिक सम्पत्ति ने व्यक्तित्व को भरमाया और गिराया ही है । इसका ध्येय विकास नहीं, लाभ (तथा-कथित 'शुभलाभ') या मुनाफा है। वैयक्तिक सम्पत्ति ने दृष्टि को यहाँ तक बिगाड़ा है कि व्यक्ति रखने को महत्त्व देता है होने' को नहीं। व्यक्ति यह भूल गया है कि उसका उत्कर्ष या विकास इस में नहीं है कि उसके पास क्या है, बल्कि इसमें है कि वह कैसा है ? व्यक्तित्व वास्तव में वह है जो व्यक्ति के भीतर है और यही महत्त्वपूर्ण भी है। जो बाहर है, वह गौण है, हेय है। सचमुच एक ओर जो अपार सम्पत्ति रखता है, उसका व्यक्तित्व उससे भ्रष्ट होता है, दूसरी ओर जो जीवन निर्वाह के लिये, आवश्यक सामग्री का भी संग्रह या उपभोग नहीं कर पाता है, उसका भी व्यक्तित्व क्षोभ, ईर्ष्या, द्वेष व लिप्सा की दुर्भावनाओं का शिकार होने से पतित होता है। वास्तव में न शोषक का ही व्यक्तित्व ऊंचा है, न शोषित का ही। क्या अन्यायी, क्या पीड़ित, दोनों पतित हैं। जब तक यह भेद भाव नहीं मिटेगा तब तक व्यक्तित्व का [illegible] के अनुकूल वातावरण व परिस्थितियां का [illegible] नहीं हो सकता, और यह तब तक असंभव है जब तक इस [illegible] की मूलाधार वैयक्तिक सम्पत्ति का [illegible] किया जाय। अतः वैयक्तिक सम्पत्ति को मिटाना व्यक्तित्व को बाधा [illegible] परिस्थितियों

की दासता से मुक्त करना है, सच्चे व्यक्ति के निर्माण का द्वार प्रशस्त करना है, जीवन-कला को परिष्कृत करना है। सच यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति मिटने पर ही व्यक्ति जिएगा। जीना संसार में दुर्लभ है। अपरिग्रहवादी इसी जीवन-दर्शन का सन्देश देता है। यह कहता है कि बाह्य पदार्थों की दासता को मिटाओ, तुम्हारे व्यक्तित्व को इस धन सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है, तुम्हारा व्यक्तित्व तुम से बाहर नहीं है, तुम्हारे भीतर है।

आखिर, अपरिग्रहवाद यही तो कहता है कि आवश्यकता से अधिक परिग्रह को ग्रहण न करो, तथा जो कुछ भी ग्रहण करो, तटस्थ भाव से ग्रहण करो। जब व्यक्तिगत सम्पत्ति मिटती है, वैयक्तिक एकाधिकार की या व्यक्ति-विशेष के स्वामित्व की भावना लुप्त होती है, अथवा जब सम्पत्ति का स्वामित्व सार्वजनिक हो जाता है, तब एक तो व्यक्ति की आवश्यकता समाजानुमोदित होने से मर्यादित रहेगी, दूसरे जो भी पदार्थ या सामग्री व्यक्ति को मिलेगी वह उसका उपयोग या उपभोग करते हुये भी उस में आसक्त न होगा और इस कारण उसके मानस जगत में विकार भावों की आँधी न चलेगी। अपरिग्रहवाद तथा ही आवश्यकतानुसार अनासक्तिपूर्ण उपभोग चाहता है। अतः हम सहज ही यहाँ इस निष्कर्ष पर आते हैं कि जहाँ तक वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रश्न है, साम्यवाद व अपरिग्रहवाद दोनों में पूर्ण मतैक्य या सामंजस्य है।

ट्रस्टीशिप

यहाँ सहज ही हमारा ध्यान 'ट्रस्टीशिप' के इस सुझाव की ओर जाता है कि वैयक्तिक सम्पत्ति को नष्ट करना न आवश्यक है और न वाञ्छनीय ही है, इतना ही यथेष्ट व उचित है कि

सम्पत्ति का स्वामी अपनी सम्पत्ति का 'ट्रस्टी' बन जाय अपनी सम्पत्ति को समाज की ही सम्पत्ति समझे और समाज के हित-साधन में उसे लगाये।

'ट्रस्टीशिप' में आस्था रखने वाले कुछ इस तरह सोचते हैं— संग्रह करना 'स्व' और 'पर' दोनों के लाभ के लिये हो सकता है। जो 'स्व' के लिये संग्रह लेकर बैठे हैं वे अहिंसा-धर्म की पालना सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिये संग्रह लेकर बैठे हैं, वे ही 'ट्रस्टी' हैं। वे संग्रह रखते हुये भी अहिंसावादी हैं क्योंकि उनके संग्रह में राग नहीं है।*

'ट्रस्टीशिप' की विचारधारा को सच्चे अर्थों में ट्रस्टीशिप नहीं कहा जा सकता

यहाँ 'ट्रस्टीशिप' शब्द को एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। वस्तुतः 'ट्रस्टीशिप' वहीं है जहाँ ट्रस्टी ट्रस्ट का प्रबन्ध-कर्त्ता या व्यवस्थापक मात्र है, मालिक नहीं है, तथा जहाँ ट्रस्टी ठीक तरह अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो मालिक को ट्रस्टी बदलने का अधिकार है तथा उस अधिकार का उपयोग करने की शक्ति भी उसे प्राप्त है। पर 'ट्रस्टीशिप' की जिस मान्यता की ओर हमने संकेत किया है, वहां 'ट्रस्टी' स्वयं मालिक है और मालिक की हैसियत से उसने स्वयं ही अपने आप को 'ट्रस्टी' नियुक्त किया है। समाज के स्वामित्व की बात कहने भर की है क्योंकि इसका आधार समाज का कोई नियम अथवा राज्य का कोई विधि विधान या कानून नहीं बल्कि उस व्यक्ति की जो स्वयं ही

*बापू—लेखक श्री० घनश्यामदास बिड़ला

मालिक व 'ट्रस्टी' दोनों है, इच्छा व रुचि ही है। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने एक स्थल पर लिखा है—"ट्रस्टी बनने की कल्पना में व्यक्तिगत स्वामित्व का रहना अनिवार्य नहीं है, रहा भी तो नाम मात्र का, जिसमें 'ट्रस्टी' कभी-कभी अपने मन म खुश हो लिया करे कि मैं मालिक भी हूँ।"* कहने की जरूरत नहीं है कि कभी कभी खुश होने के लिये नाम-मात्र की मालिकी की यह बात थोथी व हास्यास्पद है। जो मालिकी ही सारी बुराइयों की जड है और जो मालिक को सच्चा ट्रस्टी बनने ही नहीं दे सकती है, उसे लेकर इतनी हलकी बात कहना विषय की गंभीरता की अवहेलना करना है, एक तरह की खिलवाड करना है। और भी एक स्थल पर आपने लिखा है— 'यदि मालिकाना हक रहा भी तो वह नाम मात्र का रहेगा, स्पिरिट (Spirit) तो ट्रस्टी की ही रह सकती है।"† स्पष्टतया यहाँ इस मनोवैज्ञानिक सत्य की पूर्ण अवहेलना है कि जहा स्वामित्व की अनुभूति है वहा ट्रस्टीशिप की स्पिरिट टिक ही नहीं सकती है। दोनों म कोई सामंजस्य ही नहीं है। और, यह कहना कि ट्रस्टीशिप' की कल्पनाओं में व्यक्तिगत स्वामित्व अनिवार्य नहीं है, क्या अर्थ रखता है? स्वामित्व के लिये तभी तो स्थान न रहेगा जब मालिक स्वयं अपनी सम्पत्ति पर से अपना अधिकार हटाले या उसकी मालिकी समाज को सौंप दे। यहाँ तो 'ट्रस्टीशिप के मूल में ही स्वामित्व जमा पड़ा है। तथा कथित ट्रस्टी की इच्छा या मरजी ही यहाँ सब कुछ है। वह चाहे तो 'ट्रस्टी' है न चाहे तो कुछ नहीं है। गरज यह कि 'ट्रस्टीशिप' का मूल भाव व अभिप्राय यहाँ है ही नहीं। फिर भी, क्योंकि इस विचार-धारा को 'ट्रस्टीशिप' की

---

*गांधीवाद समाजवाद—पृष्ठ ६२

†गाँधीवाद समाजवाद"-पृष्ठ ५६

संज्ञा दी गई है, शिष्टता के नाते हम इसी नाम से इस विचार-धारा का उल्लेख करेंगे।

ट्रस्टीशिप का आधार ठोस नहीं है

सबसे पहिले जो बात यहाँ खटकती है, वह यह है कि अर्थ-व्यवस्था के प्रश्न को मौलिक दृष्टि से यहाँ नहीं देखा गया है। यहाँ पृष्ठ-भूमि में ही अर्थ-वैषम्य है। अब तक पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत जो आर्थिक शोषण होता आया है, उसके परिणाम को आधार भूत मान कर चलने की ही दृष्टि यहाँ है। शताब्दियों बल्कि सहस्राब्दियों से होते रहने वाले अन्याय के प्रतिकार का प्रश्न आमूल परिवर्तन की प्रेरणा देने के लिये यहां नहीं है। ऐसे समाज का ही चित्र यहाँ सामने है जिसमें थोड़े से ही व्यक्ति धनवान हैं। 'धनवान' से अभिप्राय उस व्यक्ति से है जिसके पास आवश्यकता से अधिक धन है। 'ट्रस्टीशिप' ऐसे ही अतिरिक्त धन की अपेक्षा रखता है। स्पष्टतः यहाँ व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का उपार्जन व संग्रह करे और उस पर अपना अधिकार जमाये रखे। इस संग्रह व स्वामित्व पर कोई अंकुश यहाँ नहीं है। अंकुश अतिरिक्त सम्पत्ति के उपयोग या भोगोपभोग मात्र पर है, अतिरिक्त सम्पत्ति की वृद्धि पर नहीं है, और उपभोग या भोगोपभोग का अंकुश भी सुनिश्चित होने में उसका कोई ठोस आधार नहीं है।

ट्रस्टीशिप बनाम अपरिग्रह

इस ट्रस्टीशिप की संगति जब अपरिग्रह के साथ बिठाई जाती है तब आश्चर्य होता है। जहाँ तक संग्रह मात्र का प्रश्न है, निश्चय ही अपरिग्रह से वह बेमेल नहीं है क्योंकि जैसा कि हम

विवेचन कर चुके हैं *अपरिग्रह पदार्थ का नहीं, परिग्रह का अग्रहण है।* संग्रह पक्ष की अपेक्षा से अपरिग्रह से ट्रस्टीशिप की टक्कर होने की अधिक आशंका नहीं है। पर जहाँ तक निजी सत्ता या विशेष स्वामित्व का प्रश्न है, किसी भी तरह अपरिग्रह से न उसका सामंजस्य है, न हो सकता है। जो संग्रहकर्त्ता के निजी स्वामित्व से गुँथा है, वह आसक्ति व अहंकार में सना है और निश्चय ही वहाँ ममत्व है, मूर्च्छा है, परिग्रह है। 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठने की बात में कोई सार नहीं है जबकि ले बैठने वाला संग्रह का एक-छत्र स्वामी है। इस तरह स्पष्ट है कि अपरिग्रह की कसौटी पर खरी उतरने योग्य क्षमता 'ट्रस्टीशिप' में नहीं है।

एक बात और है। *ट्रस्टीशिप दान व त्याग की नींव पर स्थित है, किन्तु अपरिग्रह त्याग मूलक नहीं, अग्रहण-मूलक है।** त्याग या दान का अपना एक काला बाजू है अतः अग्रहण से यह निम्न है। 'ट्रस्टीशिप' अतिरिक्त धन के स्वामित्व की नींव पर खड़ा है, जबकि अपरिग्रह का आधार अतिरिक्त धन के स्वामित्व की अस्वीकृति है। इस तरह *अपरिग्रह की साधना एक मस्त फकीर ही कर सकता है जबकि 'ट्रस्टीशिप' के विलास में एक धनराज ही निमग्न हो सकता है।* किसी भी पहलू से देखा जाय, हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि अपरिग्रह एक उच्चतम साधना है और 'ट्रस्टीशिप' उससे बहुत नीचे है। दोनों में कोई समानता या समरूपता नहीं है। पहिला आदर्श है जबकि दूसरा कुछ है तो अधिक

*'यहाँ ग्रहण' से संग्रह मात्र नहीं वह संग्रह विशेष ही अभिप्रेत है जिस में संग्रहकर्त्ता का निजी व विशेष स्वामित्व जुड़ा हुआ है। इस अपेक्षा से अग्रहण में संग्रह के लिये स्थान हो सकता है पर स्वामित्व के लिये नहीं।

मे अधिक 'मजबूरी का इलाज' है।

मजबूरी का इलाज

सच तो यह है कि दृष्टीशिप' के आचार्यों ने भी इसे मजबूरी का इलाज माना है। स्वर्गीय श्री किशोरलाल धनश्याम मश्रुवाला की यह स्वीकारोक्ति स्पष्ट है—"गांधी जी के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी मनुष्य के पास किसी भी तरह का परिग्रह न होना चाहिये। सम्पत्ति के व्यक्तिगत परिग्रह को वे सह लेते हैं इसका यह कारण नहीं कि उन्हें सम्पत्ति या परिग्रह से मोह है, अथवा यह कि मनुष्य-जाति के उत्कर्ष के लिये वे सम्पत्ति के संग्रह को आवश्यक समझते हैं, बल्कि कारण यह है कि *व्यक्तिगत परिग्रह घटाने और जुटाने की प्रथा को मिटाने का कोई सत्याग्रही मार्ग उन्हें नहीं मिला है।*"* इसी तरह श्रा० हरिभाऊ उपाध्याय ने भी कहा है—"समाजवादी तो कहते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार किसी को न होना चाहिये। इधर गांधी जी भी अपरिग्रह के पुजारी हैं। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति तो ठीक आवश्यक वस्तुओं के संग्रह को भी चोरी मानते हैं। तो दोनों इस बात पर तो सहमत हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे, पर यदि लोग हमारे कहने से या उपदेश से न छोड़ें तो? तब समाजवादी कहेगा कि क़ानून बना दो जिससे ऐसा अधिकार किसी को न रहे। परन्तु प्रश्न तो यह है कि गांधीवादी इस अवसर पर क्या सलाह देगा? मैं समझता हूँ *समय आने पर गांधीवाद कोई अहिंसक उपाय अवश्य ढूँढ निकालेगा।*"† इन उद्धरणों से जो बात प्रतिभासित होता है, वह यही है कि आर्थिक समानता के आदर्श तक पहुँचने का मार्ग

---

*गांधीवाद समाजवाद—पृष्ठ १६
†गांधीवाद " ५१-५२

सामने न होने के कारण, मजबूरी की हालत में, 'ट्रस्टीशिप' से ही संतोष कर लिया गया है।

सहज दोष

यूँ भी 'ट्रस्टीशिप' की विचारधारा में अनेक असंगतियाँ व विश्रृंखलाएँ हैं। इसी कारण इसमें लेकर अनेक जटिल प्रश्न खड़े होते हैं। उदाहरणार्थ एक यही प्रश्न सहज ही उठता है कि व्यक्ति का निजी आवश्यकता का मापदण्ड कौन और किस तरह स्थिर करे? क्या व्यक्ति का ही इस निर्णय का अधिकार हो? यदि हाँ तो यहाँ जो उच्छृंखलता व स्वेच्छाचारिता होना स्वाभाविक ही है, उसकी रोक थाम कैसे हो? फिर पर हित या अनहित का प्रश्न भी टेढ़ा है। एक व्यक्ति को जिस कार्य में समाज या जगत का कल्याण दिखे दूसरे को उसी में जगत का अहित या सर्वनाश दिख सकता है। कोई व्यक्ति अपने धन का किसी कार्य विशेष में उपयोग करे तो इसकी क्या गारंटी है कि यह सदुपयोग ही है। यहाँ हित निकट है तो अहित भी दूर नहीं है। व्यक्ति विशेष कार्य विशेष में जगत का उद्धार समझ सकता है, पर यथार्थ में वह कार्य जगत के लिये सर्वनाशकारी हो सकता है। ऐसी हालत में हित का आश्वासन कैसे हो और अहित की आशंका का निराकरण कैसे हो? स्पष्टतः इसके लिये सद्भावना ही पर्याप्त नहीं है। चाहने पर भी व्यक्ति इस विषय में असहाय है क्योंकि वह अपनी दृष्टि से ही तो देख सकेगा और जबकि कुंजी उस व्यक्ति के हाथ में है तो दूसरे भी असहाय ही हैं।

स्वेच्छिक व स्वतन्त्र अनुमति

कहा जाता है कि 'ट्रस्टी' अपनी इच्छा से नहीं, समाज

की अनुमति से ही अपने अतिरिक्त धन का उपयोग करेगा। पर यह कहने भर की बात है। कौड़ी बराबर भी इसका व्यावहारिक मूल्य नहीं है। स्वामित्व व्यक्ति विशेष का हो तब दूसरों की अनुमति का क्या अर्थ है ? जिसे अधिकार ही नहीं है, वह अनुमति देने वाला कौन ? मैं काम करूँ अपनी मरजी से और कहूँ कि समाज की अनुमति से कर रहा हूँ, तो यह तो वही कहावत हुई कि 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान'। यह समाज की प्रतिष्ठा नहीं, इसका उपहास है। 'अनुमति' तभी अनुमति है जब मर्यादा के उल्लंघन को रोकने की सामर्थ्य भी उसके पीछे हो। जहाँ ऐसा कोई शक्ति नहीं है, वहाँ परानुमति नाम की कोई चीज नहीं, स्वेच्छा मात्र ही है, फिर भले ही उसे सारी दुनिया की अनुमति कह कर मन को समझा लीजिये या ईश्वर की प्रेरणा कह कर। इस सच्चाई को एक तरह से स्वर्गीय श्री० किशोरलाल घनश्याम मशूवाला मान्य भी करते हैं, जब वे कहते हैं—'मनुष्य के सुख-पूर्वक निर्वाह के लिये जितना आवश्यक है, उसे छोड़ कर शेष सारे अधिकार का उपभोग दूसरों की अनुमति से ही किया जा सकता है, फिर भले ही वह अनुमति निर्बलतावश दी गई हो या अज्ञानवश*'। कितने स्पष्ट रूप से 'ट्रस्टीशिप' की जड़ में लिपटी झूठी या अर्थहीन अनुमति को मशूवाला जी स्वीकार कर बैठे हैं। यद्यपि आगे चल कर मशूवाला जी ने जनता को बलवान और सावधान बनने की आवश्यकता बताई है, पर साथ ही जब वे कहते हैं कि जनता में उत्पन्न किया जाने वाला बल अहिंसामय ही होना चाहिये, और फिर तुरन्त ही यह कह कर कि 'इस विषय की इससे अधिक चर्चा आज नहीं की जा सकती क्योंकि गांधी जी और उनके विचार से सहमत उनके

*गांधीवाद समाजवाद पृष्ठ—१६

साथी इसे प्रत्यक्ष आचरण में लाने का प्रयोग अभी तो कर ही रहे हैं'†, सारे प्रश्न को टाल देते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजानुमति की बात में कोई प्राण नहीं है। निर्बलता या अज्ञानतावश दी गई 'अनुमति' को अनुमति कहना, अनुमति के भावपक्ष व अभिप्राय का मखौल उड़ाना है। अनुमति स्वेच्छित न हो तब उसका क्या मूल्य है?

मजबूरी क्यों?

इस तरह हम देखते हैं कि 'ट्रस्टीशिप' की विचारधारा अपने में ही गठी हुई नहीं है, वह अस्त व्यस्त है, लचीली व ढीली है और उसे मजबूरी का इलाज समझना भी अर्थहीन है। पहिले तो यह ही बेतुकी बात है कि मार्ग सामने नहीं है तो मंजिल को ही आँखों से ओझल कर दें, या व्यवहार को इतना सिर पर चढ़ालें कि आदर्श को नीचे उतार फेंके। साधन ठीक हों, यह आग्रह माना जा सकता है और इसे मान कर साधनों का अनुसंधान चालू रह सकता है। आखिर, यह मजबूरी का होना क्या शोभनीक है? गांधी जी ने कहा है कि जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं के साधनों पर जनता का अधिकार होना चाहिये, उन्हें लेन-देन की चीज हरगिज नहीं बनने देना चाहिये।*

†गांधीवाद समाजवाद पृष्ठ—१६

*मेरी राय में हिन्दुस्तान की और सारे संसार की अर्थ व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि उसमें बिना खाने और कपड़े के कोई भी रहने न पावे। यह आदर्श तभी सिद्ध होगा जबकि जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकतायें पूरी करने के साधनों पर जनता का अधिकार रहेगा। जिस प्रकार भगवान की पैदा की हुई हवा और पानी सब को मुफ्त मुयस्सर होते हैं या होना चाहिये उसी तरह ये साधन भी सब को बेरोकटोक मिलने चाहिए। उन्हें दूसरों के हड़पने के लिये लेन देन की चीज़ हरगिज नहीं बनने देना चाहिये।

—सर्वोदय जनवरी १६३६

राष्ट्र यहाँ समाजीकरण का आग्रह है, भले ही वह एक हद तक ही हो। पर प्रश्न तो यह है कि इन साधनों पर व्यक्ति को आज जो आवश्यकता से अधिक अधिकार प्राप्त हैं, उन्हें जनता को सौंपने के लिये किस उपाय का सहारा लेना होगा ? वह रज़ामंदी से न दे, तो ? क़ानून बनाना नहीं है, क्योंकि इसमें 'हिंसा' है। फिर क्या किया जाय ? सत्याग्रह पिकेटिंग, असहयोग आन्दोलन ? तो फिर क्यों न अपरिग्रह की भावना ही इन अहिंसात्मों में की जाय ? क्यों फिर अकारण चोरी को जायज़ बनाने की मजबूरी में अपने को डाला जाय ?* गुलाम राष्ट्र को आज़ाद करने के लिये इन अस्त्रों का संचालन हम कर सकते थे, और संसार की सबसे बड़ी शक्ति का, सबसे बड़े साम्राज्य का, मोरचा ले सकते थे, तो फिर क्या कारण है कि अपने ही भीतर के पूंजीवादी या समाज विरोधी वर्ग को नहीं झुका सकते ? क्या उनकी मिलों, फैक्टरियों, दूकानों या गोदामों पर पिकेटिंग नहीं की जा सकती ? क्यों उनके साथ असहयोग नहीं किया जा सकता ? क्यों उनके माल का बायकाट नहीं किया जा सकता ? क्यों उनका ही बहिष्कार नहीं किया जा सकता ? आख़िर, अहिंसा के भी शस्त्रागार में क्या कमी है जो दीनता से भरी बातें कही जायँ और अपनी विवशता व असहायता पर आँसू बहाए जाँय ? एक बाहरी शत्रु का हृदय परिवर्तन तक करने का दावा किया जा सकता है तो फिर अपने ही थोड़े से भाइयों को राह पर लाना क्या कठिन है ? न लें क़ानून का सहारा, अगर

*प्रत्येक उद्यमी मनुष्य का आजीविका पाने का अधिकार है मगर धनोपार्जन का अधिकार किसी का नहीं। सच कहें तो धनोपार्जन इसेन्स है चोरी है। जो आजीविका से अधिक धन लेता है वह जान में हो या अनजान में दूसरों की आजीविका छीनता है—हिंदी नवजीवन, १२ १ ६।

जिद ही है। पर अहिंसा के दिव्यास्त्र को तो जंग न लगायें? अहिंसात्मक उपाय सामने नहीं है, यह कह कर अहिंसा को उपहास का विषय तो न बनायें? अहिंसा की दुहाई देते न थकें, वक्त बेवक्त उसी की दुहाई दें, पर जब उसके प्रयोग का अवसर सामने आए तो उसे विवशता व अकर्मण्यता के अवगुंठन में छिपा कर पलायन कर जायें, यह क्या उचित है? आखिर, जैसे जैसे परिस्थितियों में परिवर्तन होता रहेगा, अहिंसात्मक अस्त्र के उपयोग का तरीका भी बदलता रहेगा। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। पर आविष्कार का मार्ग तो प्रशस्त करें। अतः क्यों न हम अपरिग्रह के महत् आदर्शों की बात साफ साफ कहें और घोषणा करें कि हम अहिंसा के पथ पर चल कर अपरिग्रहवादी क्रान्ति का सूत्रपात करेंगे, और तब तक चैन न लेंगे जब तक पूंजीवादी या परिग्रहवादी व्यवस्था का अंत न हो जायगा, अथवा जब तक ऐसी व्यवस्था स्थापित न हो जायगी जिस में कोई भी व्यक्ति आवश्यकता से अधिक पदार्थों पर अधिकार जमाने की चोरी न कर सकेगा, तथा उत्पत्ति व उपभोग के समस्त साधनों पर जनता का अधिकार न हो जायगा?

अहिंसा-विषयक दृष्टिकोण व्यापक व सर्वांगीण होना चाहिए

यहाँ अहिंसात्मक पद्धति को लेकर भी कई प्रश्न खड़े होते हैं। इनमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या बहुमत भी हिंसा है? ६० प्रतिशत जनता एक-मत होकर विधि विधान बनाए तो क्या वह विधान हिंसा पर आधारित है? और, इस कारण क्या समाज का हर नियम, राज्य का हर क़ानून, हिंसात्मक है

यदि हिंसा अहिंसा को देखने का यही दृष्टिकोण है, तब तो मानव जीवन एक ऐसी पहेली बन जाएगा जो सुलझाए न सुलझेगी ? फिर तो फौज, पुलिस कचहरी, न्याय प्रणाली, दण्ड-व्यवस्था, सभी का अंत करना होगा ? पर क्या कभी यह हो सकेगा ? जिस अराजकता का स्वप्न, क्या गांधीवादी और क्या साम्यवादी, सभी अपनी अपनी दृष्टि से देखते हैं कभी साकार हो सकेगा ? कल्पना आखिर कल्पना ही है। उस लेकर आज के जीवन संघर्ष की तद्-जन्य परिस्थितियों की अवहेलना करना क्या बुद्धिमानी है और क्या यह संभव भी है ? कल्पना का एक मूल्य है यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कल्पना आविष्कार की जननी है। यह बुद्धि की सखी व सहायिका है। वह आदर्श प्रेरणा का स्रोत है। वह निरंतर यह चेतावनी देती है कि हमारी आखिरी मंजिल क्या है ? जब भी हम लड़खड़ाते हैं वह बाँह पकड़ कर हमें संभालती है। जब भी हम भटकते हैं, वह अंतर्ज्योति जगाकर हमें मार्ग दिखाती है। इस तरह कल्पना महत्त्वपूर्ण है, मूल्यवान है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका ऐसा उन्माद हम पर छा जाये कि हम धरती पर न चलें, आकाश में ही उड़ने लगें। बहुमत को अथवा हर नियम व कानून को हिंसा कहना बहुत कुछ ऐसी ही हवाई उड़ान है। ऐसी उड़ानों के चक्कर में वर्गहीन शोषण विहीन समाज-व्यवस्था के आदर्श को ही नीचे गिरा देना और मजबूरी का रोना रोना व्यर्थ है, असह्य है।

पूंजीवाद का संरक्षण

हाँ, एक दृष्टि से मजबूरी की दुहाई काम की है। वह पूंजीवाद को संरक्षण दे सकती है, देती भी है। 'ट्रस्टीशिप' की

आड म पू जीवाद को क़िलेबंदी करने का अवसर मिलता है। एक ओर कहा जाता है कि आवश्यकता से अधिक धन ग्रहण या धन संचय करना चोरी है, पर दूसरी ओर 'ट्रस्टी' का लेबिल (L bel) लगाकर चोर को खुले-आम चोरी करने की छूट दे दी जाती है, बल्कि इतना ही नहीं, उसे समाज-सेवा की ठेकेदारी या 'ट्रस्टी' नाम का पद देकर गौरवान्वित भी किया जाता है। फिर, जहाँ समाजवादी-प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिये अहिंसक साधनों की कड़ाई पर बे तरह ज़ोर दिया जाता है, वहाँ दूसरी ओर धन संग्रह के साधनों के प्रति उपेक्षा दिखाई जाती है। आखिर, इसका क्या परिणाम हो सकता है ? भले ही बेईमानी से या गैर-क़ानूनी तौर पर, ब्लैक-मारकेटिंग या चोरी से, धन का संग्रह किया गया हो, पर वह धन 'ट्रस्ट' की सम्पत्ति बन सकता है। श्री० मश्रुवाला के ये शब्द इसी ओर इंगित करते हैं—"कोई भी सम्पत्ति किसी व्यक्ति के अधिकार में हो या अनेक व्यक्तियों से बने किसी मंडल के अधिकार में हो, और *यह अधिकार उन्होंने उस समय के क़ायदे के अनुसार पाया हो या गैर-क़ानूनी तौर पर पाया हो* लेकिन वे उसे अपने पास निजी उपयोग के लिये नहीं बल्कि समाज की ओर से समाज के लिये ही रख सकते हैं अर्थात्, उन्हें व दूसरों को समझना चाहिये कि वे उस सम्पत्ति के 'ट्रस्टी' या संरक्षक हैं।"* इस तरह चोर बाजारी व रिश्वतखोरी करने वाला इन्कम टैक्स बचाने वाला रकमें गबन करने वाला, चोरी या डकैती करने वाला गरज़ यह है कि कैसे भी अनीतिपूर्ण उपायों से धन बटोरने वाला समाज का डाकू भी 'ट्रस्टी' की उपाधि से

---

*गाँधीवाद समाजवाद—पृष्ठ १७

विभूषित हो सकता है, या यूं कहिये कि पापाजीविका से संगृहीत धन 'ट्रस्ट' का विषय बन सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस 'ट्रस्टीशिप' का क्या नैतिक मूल्य है? यहाँ तो साफ-साफ पूंजीवाद व उसके सारे पापों का संरक्षण है।

प्रश्न—ट्रस्टीशिप भीतरी सुधार की अपेक्षा रखता है बाहरी दबाव की नहीं। भीतरी सुधार ही वास्तविक सुधार है। मजबूरी में पड़ कर कोई व्यक्ति किसी बात को माने या आचरण करे, तो अन्तःकरण से वह धर्माचार न होगा और यह स्थिति भयावह ही होगी।

उत्तर—यहाँ दृष्टि भ्रम है। यह ठीक है कि भीतरी सुधार ही सच्चा सुधार है। यह भी ठीक है कि मजबूरी में पड़ कर व्यक्ति किसी बात को माने या तदनुकूल आचरण भी करे, तो अंतःकरण से वह धर्माचार न होगा। पर यह सब ठीक है एक हद तक ही। भीतर और बाहर का निकटतम सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। बाहर की परिस्थिति व वातावरण का व्यक्ति के मन मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है, अतः व्यक्ति के सुधार को दृष्टि में रखकर भी समाज से आँख नहीं मींची जा सकती। हम पहले कह आये हैं कि व्यक्ति अपनी जगह महत्वपूर्ण है, पर समाज भी तो आखिर व्यक्ति का ही प्रतिबिम्बित रूप है, वह व्यक्ति से पृथक नहीं है। अतः व्यक्ति के सुधार के लिये यह आवश्यक है कि समाज का सुधार हो। खराब हालतों में पड़ कर भला आदमी भी बिगड़ जाता है। बुरी संगति से बचने की बात का यही तो अर्थ है कि अपने को दूषित

वातावरण में बचाया जाय । अत वातावरण का शुद्धिकरण व्यक्ति की शुद्धि के लिए आवश्यक ही नहीं है, अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बाहरी दबाव भी भीतरी सुधार के लिये आवश्यक है। हाँ वह सही दिशा में हो, उसका तरीक़ा ठीक हो, वह उचित मर्यादा में हो यह सतर्कता जरूरी है। पर दबाव ही न हो, यह आग्रह व्यर्थ है, अनुचित है। अहिंसा का भी तो असर होता ही है और हर असर एक तरह का दबाव है। शुरू में दबाव अवश्य खलेगा पर जब वह अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेगा या जब वह व्यक्तित्व के भीतरी सुधार या, व्यक्ति की मनोवृत्ति व दृष्टि बदलन का, काम निपटा लेगा तब वही प्रिय बन जायगा। अब बाहरी दबाव को गलत दिशा में बहकने से या मर्यादा का अतिक्रम करने से रोकने की बात हम कह सकते हैं और कहना ही चाहिये, पर भीतरी सुधार के मुकाबले में उसे रखकर उसके विरुद्ध फतवा नहीं दे सकते। ऐसा तो अन्याय करेंगे। सच यह है कि भीतरी सुधार से बाहरी वातावरण बदलने में सहायता मिलती है और बाहरी दबाव या बाहरी वातावरण का शुद्धिकरण भीतरी सुधार करने में सहायक होता है। दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं, सहायक हैं अत 'हृदय-परिवर्तन' के समर्थन में जो भीतरी सुधार की इकतरफा बात कही जाती है उसमें कोई वजन नहीं है।

प्रश्न—तो क्या आप समझते हैं कि अपरिग्रहवादी आदर्श पूर्णतया व्यावहारिक है और उसके अनुरूप समाज-व्यवस्था की स्थापना संभव है। यदि हाँ, तो क्या आप ऐसी समाज व्यवस्था की कुछ रूप रेखा प्रस्तुत करेंगे ?

उत्तर—आदर्श एक मानस चित्र या कल्पना है, एक लक्ष्य है और उसे पाने के लिए कदम-ब-कदम आगे बढ़ना व्यवहार है। इस अपेक्षा में हर आदर्श, यदि सचमुच वह ठोस या वास्तविक है तथा उसमें मनुष्य को आगे ले जाने का प्रेरणा स्रोत है, व्यवहार्य है। उसके व्यवहार्य होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पूरी कल्पना साकार होने की क्षमता रखती हो। यदि व्यवहार्यता के इस दृष्टिकोण से आदर्श को नापा जायगा, तब तो आदर्श गिर जायगा। आदर्श अपने उच्चतम स्थान पर रहे और मनुष्य सदैव उससे सत् प्रेरणाएँ ग्रहण करता रहे, मनुष्य के विकास के लिए यह अनिवार्य है। आदर्श को लेकर समझौता करना दब्बूपन है। हां, आदर्श को खींच तान कर इतना ऊपर न उठाना चाहिए कि वह दृष्टि से ही ओझल हो जाय और एक बेढंगी असम्भव या कोरी हवाई कल्पना को आदर्श का आसन मिल जाय। पर एक उच्च विकासोन्मुख सजीव प्रेरणादायक व मार्ग-निर्देशक भव्य कल्पना अवश्य सम्माननीय है। आदर्श और व्यवहार के संघर्ष की यहां कोई सम्भावना नहीं है। फिर, एक दम एक ही डग में मंज़िल तक पहुँच जाने का बाल हठ भी यहाँ नहीं है, बल्कि आदर्श सदैव लक्ष्य में रखते हुए साधना के मार्ग पर स्थिरता व दृढ़ता के साथ एक-एक कदम बढ़ाते हुए आगे बढ़ना ही यहाँ अभीष्ट है। आवश्यकता इस बात की है कि दृष्टि आदर्शगामी हो, व्यवहार की सीमाओं के साथ भी आदर्श कभी ओझल न हो, एक-एक कदम उठाते समय मंज़िल सामने हो, व्यवहार सदैव निश्चयोन्मुखी हो, एक सजीव प्रेरणा, एक भव्य कल्पना, एक ऊँची भावना, एक सुलझी हुई विचार धारा, जीवन पथ के पग पग पर पथिक को आशान्वित बनाए रखे और निरन्तर उत्साह से आँखें खोले, बुद्धि विवेक के उजाले में, आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करती रहे तथा जब भी शिथिलता आए, गलत कदम उठे या ठोकर लगे, तभी आदर्श गिरते को सँभाले, नवशक्ति

वातावरण से बचाया जाय। अतः वातावरण का शुद्धिकरण व्यक्ति की शुद्धि के लिये आवश्यक ही नहीं है, अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बाहरी दबाव भी भीतरी सुधार के लिये आवश्यक है। हाँ वह सही दिशा में हो, उसका तरीका ठीक हो, वह उचित मर्यादा में हो यह सतर्कता जरूरी है। पर दबाव ही न हो, यह आग्रह हठ है, अनुचित है। अहिंसा का भी तो असर होता ही है और हर असर एक तरह का दबाव है। शुरू में दबाव अवश्य चलेगा पर जब वह अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेगा या जब वह व्यक्तित्व के भीतरी सुधार का, व्यक्ति की मनोवृत्ति व दृष्टि बदलने का, काम निपटा लेगा तब वही प्रिय बन जायगा। अब बाहरी दबाव को गलत दिशा में बहकने से या मर्यादा का अतिक्रम करने से रोकने की बात हम कह सकते हैं और कहना ही चाहिये, पर भीतरी सुधार के मुकाबले में उसे रखकर उसके विरुद्ध फतवा नहीं दे सकते। ऐसा तो अन्याय करेंगे। सार यह है कि भीतरी सुधार में बाहरी वातावरण बदलने से सहायता मिलती है और बाहरी दबाव या बाहरी वातावरण का शुद्धिकरण भीतरी सुधार करने में सहायक होता है। दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं, सहायक हैं अतः 'ट्रस्टीशिप' के समर्थन में जो भीतरी सुधार की इकतरफा बात कही जाती है उसमें कोई वजन नहीं है।

प्रश्न—तो क्या आप समझते हैं कि अपरिग्रहवादी आदर्श पूर्णतया व्यावहारिक है और उसके अनुरूप समाज-व्यवस्था की स्थापना सम्भव है। यदि हाँ, तो क्या आप ऐसी समाज व्यवस्था की कुछ रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे?

धनोपार्जन न हो, व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुरूप समाज की अधिक से अधिक सेवा कर तथा समाज हर व्यक्ति को उस की आवश्यकताओं के अनुरूप सुविधाएँ व सामग्रियाँ उपलब्ध करे, पूँजीवादी व्यवस्था के सभी कुत्सित रूप निषिद्ध हों, कोई खाली व बेकार न हो, कोई शरीर बेचने की मजबूरी में न हो, कोई ईमान बेचने के लिए असहाय न हो, कोई फाकाकशी या भुखमरी का शिकार न हो, कोई किसी पर भार न हो। इस तरह अपरिग्रहवाद की आधारभूत आवश्यकताओं को सामने रखकर, समाज व देश विशेष की परिस्थितियों व परम्पराओं की अपेक्षा से अपरिग्रहवादी व्यवस्था को मूर्तिमत किया जा सकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह व्यवस्था मानव-जीवन के अनुरूप परिस्थितियों की अपेक्षा से सदैव परिवर्तनशील व विकासशील रहेगी, यद्यपि समस्त बाह्य परिवर्तनों की तह में अपरिग्रहवादी मूलधारा अक्षुण्ण रहेगी ही।

मानव-दृष्टि

सच तो यह है कि अपरिग्रहवाद वाद से अधिक एक 'दृष्टि' है और यह दृष्टि अपनी विविध अपेक्षाओं से अपरिग्रहवाद को एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में देखती है। उसे केवल आर्थिक [illegible] या केवल आध्यात्मिक, तो यह भूल है। इस का [illegible] पहलू भी है और सामाजिक भी। यथा धन का विवरण [illegible] का वितरण, अपरिग्रहवादी के लिए हर क्षेत्र में [illegible]। वह राजसत्ता को किसी एक व्यक्ति में या कुछ [illegible] में सीमित रखने का विरोधी है। वह किसी भी [illegible] ठेकेदारी को मान्य करने के लिये तय्यार नहीं [illegible] का तथा निजहित व परहित का पारस्परिक [illegible] व्यक्ति को गुलाम बनाना चाहता है और

व स्फूर्ति का सचार करे, नया प्राण फूंके और आवश्यक हो तो ललकारे, चुनौती दे, और परिणामत पथिक को मंजिल की ओर ले आए। व्यवहार एक घोड़ा है जो जीवन के पथ पर दौड़ रहा है और आदर्श उसकी लगाम है। पर वह लगाम ही नहीं है जो गलत रास्ते पर जाने से न रोके, वह चाबुक भी है जो निरन्तर उसे मंजिल की ओर बढ़ने का, बढ़ते रहने का, आदेश देता है। यहां साहस की जगह बैठा है विवेक। जब भी व्यवहार की गति बिगड़ती है विवेक आदर्श का सहारा लेता है। प्रगति या विकास का यही नियम है। इस नियम को अपेना से निश्चय ही अपरिग्रहवादी आदर्श व्यावहारिक है और उसके अनुरूप समाज व्यवस्था की स्थापना संभव है, ठीक उसी तरह जिस तरह सत्य, जो निस्सन्देह एक जीवित आदर्श है, व्यवहारिक है। रह जाता है प्रश्न अपरिग्रहवादी, समाज-व्यवस्था की रूप रेखा का, सो इस बारे में समाज विशेष की परिस्थितियों व विशेषताओं को, उसकी आवश्यकताओं, परम्पराओं व भावनाओं को, दृष्टि में रखकर ही कोई रूप रेखा बनाई जा सकती है। हां, उस रूप-रेखा के मूल तत्व समझे जा सकते हैं और सब वर्तमान परिस्थितियों के सांचे में उन्हें फिट (fit) किया जा सकता है। इन मूल तत्वों के विषय में हम पहिले कह चुके हैं, और उस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अपरिग्रहवादी समाज-व्यवस्था में वैयक्तिक सम्पत्ति के लिए स्थान न हो, समस्त सम्पत्ति समाज की हो और समाज के लिए ही उस का उपयोग हो, व्यक्ति की गौरव गरिमा अक्षुण्ण रहते हुए तथा व्यक्ति के विकास के लिए पूरा क्षेत्र रहा होते हुए व्यक्ति सच्चे अर्थों में समाज की इकाई हो यही समाज का घटक या निर्माता हो पर उसका व्यक्तित्व वृहद् समाज व्यक्तित्व का अंग मात्र हो, धन का उत्पादन श्रम पर आधारित हो, श्रम की निष्ठा अक्षुण्ण हो, धनोपार्जन श्रम कणों का प्रसाद हो, वह शोषण अथवा धन द्वारा पूंजीवादी व हिंसामय

व स्फूर्ति का संचार करे, नया प्राण फूँके और आवश्यक हो तो ललकारे, चुनौती दे, और परिणामतः पथिक को मंजिल की ओर ले जाए। व्यवहार एक घोड़ा है जो जीवन के पथ पर दौड़ रहा है और आदर्श उसकी लगाम है। पर वह लगाम ही नहीं है जो गलत रास्ते पर जाने से न रोके, वह चाबुक भी है जो निरन्तर उसे मंजिल की ओर बढ़ने का, बढ़ते रहने का, आदेश देता है। यहां साहस की जगह बैठा है विवेक। जब भी व्यवहार की गति बिगड़ती है विवेक आदर्श का सहारा लेता है। प्रगति या विकास का यही नियम है। इस नियम की अपेक्षा से निश्चय ही अपरिग्रहवादी आदर्श व्यावहारिक है और उसके अनुरूप समाज-व्यवस्था की स्थापना संभव है, ठीक उसी तरह जिस तरह सत्य, जो निस्सन्देह एक जीवित आदर्श है, व्यवहारिक है। रह जाता है प्रश्न अपरिग्रहवादी समाज-व्यवस्था की रूप रेखा का, सो इस बारे में समाज विशेष की परिस्थितियों व विशेषताओं को, उसकी आवश्यकताओं, परम्पराओं व भावनाओं को, दृष्टि में रखकर ही कोई रूप रेखा बनाई जा सकती है। हां, उस रूप-रेखा के मूल तत्व समझे जा सकते हैं और तब वर्तमान परिस्थितियों के साँचे में उन्हें फिट (fit) किया जा सकता है। इन मूल तत्वों के विषय में हम पहिले कह चुके हैं, और उस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अपरिग्रहवादी समाज-व्यवस्था में वैयक्तिक सम्पत्ति के लिए स्थान न हो, समस्त सम्पत्ति समाज की हो और समाज के लिए ही उस का उपयोग हो, व्यक्ति की गौरव गरिमा अक्षुण्ण रहते हुए तथा व्यक्ति के विकास के लिए पूरा क्षेत्र रहते हुए व्यक्ति सच्चे अर्थों में समाज की इकाई हो वही समाज का घटक या निर्माता हो पर उसका व्यक्तित्व सुदृढ़ समाज व्यक्तित्व का अंग मात्र हो, धन का उत्पादन श्रम पर आधारित हो, श्रम की निष्ठा अक्षुण्ण हो, धनोपार्जन श्रम-कणों का प्रसाद हो, वह शोषण अथवा धन द्वारा पूँजीवादी व हिंसामय

धनोपार्जन न हो, व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुरूप समाज की अधिक से अधिक सेवा करे तथा समाज हर व्यक्ति की उस की आवश्यकताओं के अनुरूप सुविधाएँ व सामग्रियाँ उपलब्ध करे, पूंजीवादी व्यवस्था के सभी कुलिसत रूप निषिद्ध हों, कोई खाली व बेकार न हो, कोई शरीर बेचने की मजबूरी में न हो, कोई ईमान बेचने के लिए असहाय न हो, कोई फ़ाक़ाकशी या भुखमरी का शिकार न हो, कोई किसी पर भार न हो। इस तरह अपरिग्रहवाद की आधारभूत आवश्यकताओं का सामने रखकर, समाज व देश विशेष की परिस्थितियों व परम्पराओं आदि की अपेक्षा से अपरिग्रहवादी व्यवस्था को मूर्तिमंत किया जा सकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह व्यवस्था मानव-जीवन के अनुरूप परिस्थितियों की अपेक्षा से सदैव परिवर्तनशील व विकासशील रहेगी, यद्यपि समस्त बाह्य परिवर्तनों की तह में अपरिग्रहवादी मूलधारा अक्षुण्ण रहेगी ही।

मानव-दृष्टि

सच तो यह है कि अपरिग्रहवाद वाद से अधिक एक 'दृष्टि' है और यह दृष्टि अपनी विविध अपेक्षाओं में अपरिग्रहवाद को एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में देखती है। उसे केवल आर्थिक समझा जाय या केवल आध्यात्मिक, तो यह भूल है। इस का राजनैतिक पहलू भी है और सामाजिक भी। क्या धन का वितरण और क्या राजसत्ता का वितरण, अपरिग्रहवादी के लिए हर क्षेत्र में विषमता असह्य है। वह राजसत्ता को किसी एक व्यक्ति में या कुछ व्यक्तियों व परिवारों में सीमित रखने का विरोधी है। वह किसी भी तरह की इजारादारी या ठेकदारी का मान्य करने के लिए तय्यार नहीं है। उसे व्यष्टि व समष्टि का तथा निजहित व परहित का पारस्परिक समन्वय अभीष्ट है। न वह व्यक्ति को गुलाम बनाना चाहता है और

न व्यक्ति की स्वतन्त्रता को इतना अमर्यादित देखना चाहता है कि व्यक्ति दूसरों की कमाई हड़पे, शोषण करे, दूसरों को गुलाम बनाए। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को वह वहीं तक सीमित रखना चाहता है कि दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े। वह चाहता है कि सब को समान अवसर मिले जिस में हर व्यक्ति हर प्रकार से विकास करे। गरज यह कि यह जीवन के सभी प्रश्नों पर अपना मत रखता है और अपनी विचारदृष्टि से समस्त समस्याओं को हल करना चाहता है। वह न साम्यवाद की तरह अर्थवाद की अति से पीड़ित है और न गांधीवाद की तरह अध्यात्मवाद की अति इसे सह्य है। यह एक निष्पक्ष व निर्वैर दृष्टि है, यह एक विशुद्ध मानव दृष्टि है।

※ समाप्त ※